शांति, सद्भाव और लोकतंत्र के लिए

साझी विरासत

फेसिलिटेटरों और कार्यकर्ताओं के लिए हैंडबुक

शांति, सद्‌भाव और लोकतंत्र के लिए

साझी विरासत

फेसिलिटेटरों और कार्यकर्ताओं के लिए हैंडबुक

ख़ुर्शीद अनवर

शांति, सद्भाव और लोकतंत्र के लिए साझी विरासत
प्रशिक्षकों और कार्यकर्ताओं के लिए हैंडबुक

लेखक
ख़ुर्शीद अनवर

संपादन व प्रकाशन
सुश्री श्रुति चतुर्वेदी, श्रीमती उत्पला शुक्ला, सुश्री नीलम रावत, सुश्री बबीता नेगी
श्री चंचल सिह गढ़िया, श्री सुरेंद्र रावत, श्री गौतम गोप

हैंडबुक संशोधन समिति
श्रीमती उत्पला शुक्ला, श्री सुरेंद्र रावत, श्री गौतम गोप

ख़ुर्शीद अनवर
© आई.एस.डी.

प्रथम संस्करण
2007
संशोधित संस्करण
2019

प्रकाशक
इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी (आईएसडी)
फ्लैट नंबर—110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत
फोन : 091-11-26177904, फैक्स : 091-11-26177904
ईमेल - notowar.isd@gmail.com
वेबसाइट - www.isd.net.in

इलस्ट्रेशन एवं कवर
सुरेंद्र रावत एवं गौतम गोप

आभार

एंजला कोनिग, डॉ. रिचर्ड देवदॉस, डॉ. वोल्फगैंग, हीनरिच, एडा कर्लाइस, फ़ैसल अनुराग,
हागेन बर्न्ट, कल्याणी मेनन सेन, मोहम्मद अज़हर, पी.के.वसंत, सलिल मिश्रा
ब्रेड फ़ॉर द वर्ल्ड, प्रोटेस्टेंट डेवलपमेंट सर्विस (फ़ेडरल रिपब्लिक ऑफ़ जर्मनी)

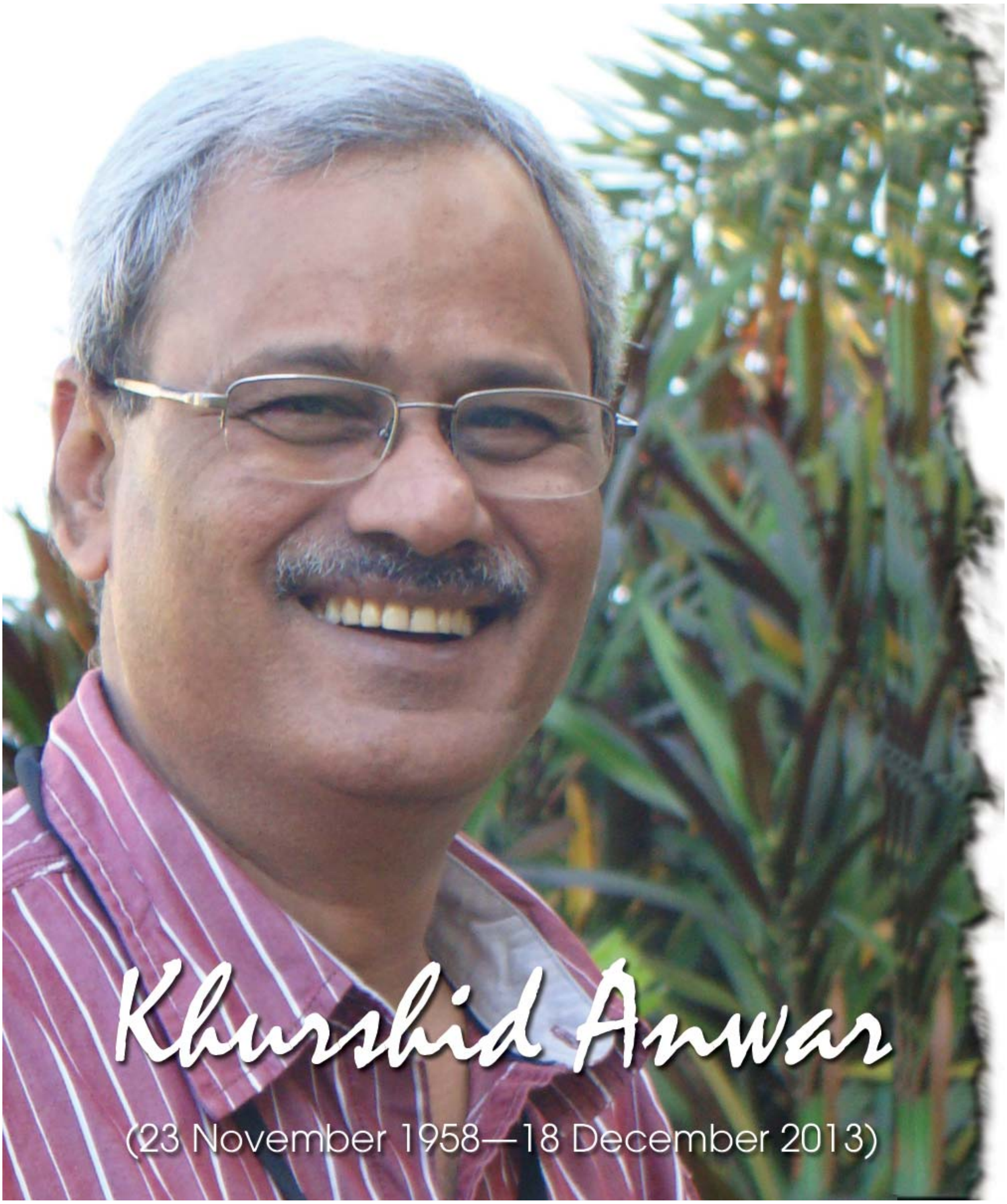

देख ज़िंदा से परे रंग-ए-चमन जोश-ए-बहार
रक़्स करना है तो फिर पाँव की ज़ंजीर न देख

मजरूह सुल्तानपुरी

विषय-सूची

हैंडबुक के बारे में 06
भूमिका 08
आईएसडी टीम की ओर से 10
समन्वयवाद और बहुलता 11

परिशिष्ट-1

अभ्यास-1, पहला चरण

संवाद की शुरुआत 15

अभ्यास-1, दूसरा चरण

व्यक्तिगत परिचय 16
फेसिलिटेटर नोट 17

अभ्यास-2

साझी विरासत की अवधारणा 20
फेसिलिटेटर नोट 21
पठन सामग्री-1 : साझी विरासत क्या है, यह कैसे बनती है ? 22

अभ्यास-3

साझी विरासत की निर्माण प्रक्रिया 26
फेसिलिटेटर नोट 27
पठन सामग्री-1 : मध्यकाल से पहले की समन्वयवादी परंपराएं 28
पठन सामग्री-2 : मध्यकालीन दक्षिण एशिया की साझी परंपराएं 31
पठन सामग्री-3 : भारत की भाषाएं : साझेपन और बहुलता का संगम 37
पठन सामग्री-4 : नववर्ष की पहेली/खेती और जीवन/नुआखाई 41

अभ्यास-4

विभिन्न रूपों की खोज 44
फेसिलिटेटर नोट 45
पठन सामग्री-1 : मेले और त्यौहार 46
पठन सामग्री-2 : भारत की लोकचित्र कलाएं 48
पठन सामग्री-3 : लोकसंगीत 50
पठन सामग्री-4 : गायन शैलियां 51
पठन सामग्री-5 : कथावाचन थियेटर 55
भारतीय सिनेमा 66

अभ्यास-5

तनाव-टकराव का संदर्भ 70
फेसिलिटेटर नोट 71

अभ्यास-6

नकारात्मक साझी विरासत 74
फेसिलिटेटर नोट 75

पठन सामग्री-1 : मेरा पक्का दोस्त राजकिशोर और मैं 76
पठन सामग्री-2 : अतिथि 78
पठन सामग्री-3 : ठाकुर का कुआँ 86
पठन सामग्री-4 : सद्गति 89

अभ्यास-7

मैं और मेरे भीतर का टकराव 96
चिंतन-मनन प्रक्रिया के लिए बिंदु 97
फेसिलिटेटर नोट 98

अभ्यास-8

साझी विरासत की उपयोगिता 100
फेसिलिटेटर नोट 101
उदाहरण 102
चर्चा के बिंदु 103

अभ्यास-9

साझी विरासत पर खतरे 106
फेसिलिटेटर नोट 107
पठन सामग्री-1 : वैश्वीकरण और मीडिया : संस्कृति एवं साझी विरासत पर असर 108
पठन सामग्री-2 : रोजगार का टूटता आधार 112
पठन सामग्री-3 : कहाँ से आते हैं जूते 115
पठन सामग्री-4 : रावण सुनाए रामायण 117
पठन सामग्री-5 : पानी एक बड़ी चुनौती / संविधान, जल नीति और मौजूदा जल संकट 119

अभ्यास-10

कार्यनीति 122
फेसिलिटेटर नोट 123

परिशिष्ट-2 : कुछ झलकियाँ

झलकी-1 त्यौहार 126
झलकी-2 पहनावा 127
झलकी-3 टेक्सटाइल 128
झलकी-4 लोकवाद्य 129
झलकी-5 हस्तशिल्प 130
झलकी-6 स्मारक 131

परिशिष्ट-3 : संदर्भ सामग्री

पठन सामग्री-1 : द्रविड़ साझी विरासत 137
पठन सामग्री-2 : खंडित क्षेत्र की साझी विरासत 142
पठन सामग्री-3 : एक उपमहाद्वीपीय इतिहास की जरूरत 145

हैंडबुक के बारे में

समस्त दक्षिण एशिया विभिन्न रूपों के हिंसात्मक टकरावों का क्षेत्र रहा है। शायद ही हिंसात्मक टकरावों का कोई ऐसा रूप हो जिससे ये क्षेत्र अछूता रहा हो। आश्चर्य है कि तनावों के एक लंबे इतिहास के दौर में इस क्षेत्र में कोई स्थायी सेक्युलर आंदोलन कभी नहीं रहा है। शांति आंदोलन इस क्षेत्र में अवश्य सक्रिय रहा है लेकिन यह आंदोलन मुख्यत: परमाणु-विरोधी और नि:शस्त्रीकरण के मुद्दे तक ही सीमित रहा है। लेकिन जहां तक सांप्रदायिक हिंसा का सवाल है हमारी पहल प्रतिक्रियात्मक ही रही है। परिणाम स्वरूप हमने न केवल अनेक सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलन देखे हैं बल्कि स्वयं भी उन आंदोलनों का हिस्सा रहे हैं।

थोड़े-थोड़े अंतराल पर दक्षिण एशिया में धार्मिक उन्माद और कट्टरतावाद सक्रिय होता है और नतीजे के तौर पर हिंसात्मक टकराव जन-जीवन को तहस-नहस कर देते हैं। ऐसे दौर में स्थितियां हमें झकझोर देती हैं। इस नफ़रत और उन्माद के ख़िलाफ हम सड़कों पर उतर पड़ते हैं। फिर धीरे-धीरे हिंसा की आग ठंडी पड़ने लगती है और साथ ही ठंडा पड़ने लगता है हमारा जोश। हमारे सांप्रदायिकता विरोधी मंच और आंदोलन निष्क्रिय होकर समाप्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में हमारे काम का एजेंडा कोई और तय करता है और हम उस पर प्रतिक्रिया दिखाते हैं। कम ही ऐसा होता है कि हम स्वयं पहल करें और एक दीर्घकालिक और मजबूत सेक्युलर आंदोलन का सूत्रपात हो सके। जब कभी हम ऐसी पहल करते भी हैं तो यह पहल बुद्धिजीवियों के बीच बहस तक सीमित रह जाती है और यह बहस भी उन्हीं लोगों के बीच चलती है जो सेक्युलर मूल्यों के लिए पहले से कटिबद्ध हैं; जबकि, जरूरत इस बात की है कि उन आम जनों को शिक्षित किया जाए जो किसी सोचे-समझे तरीके से सेक्युलर मूल्यों के लिए कटिबद्ध नहीं हैं और संभव है कि वे या तो सांप्रदायिक टकरावों का शिकार बनें या फिर निहित स्वार्थ इन टकरावों में उन्हें मोहरों की तरह इस्तेमाल कर लें। ये भी आवश्यक है कि उन सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी प्रशिक्षित किया जाए जो सेक्युलर विचारों, मूल्यों और सद्भाव तथा लोकतंत्र की मजबूती के लिए कार्यरत हैं और अपने कार्य को प्रभावी बनाने के लिए कारगर तरीकों की तलाश में भी हैं।

अपनी मशहूर किताब 'आघात न पहुंचे' (डू नो हॉर्म) में मेरी बी. एण्डरसन ने स्पष्ट किया है कि हर समाज में अमन की स्थानीय क्षमता अंतर्निहित होती है। इन क्षमताओं को वो व्यवस्थाओं एवं संस्थानों, व्यवहार और रवैयों, साझे मूल्यों और हितों, साझे अनुभवों तथा प्रतीकों और पर्वों में अंतिर्निहित पाती हैं। मेरी बी. एण्डरसन इस बात पर जोर देती हैं कि समाज में मौजूद समन्वयकों को मजबूत और विभेदकों को कमजोर किए बिना हिंसा पर काबू नहीं पाया जा सकता। दक्षिण एशिया में हम आसानी से इन व्यवस्थाओं एवं संस्थानों, व्यवहार और रवैयों, साझे मूल्यों और हितों, साझे अनुभवों तथा प्रतीकों और पर्वों को साझी विरासत के रूप में चिन्हित कर सकते हैं।

अनेक संगठन और सामाजिक कार्यकर्ता अपने क्षेत्रों की आवश्यकताओं और विशिष्टताओं के अनुसार शांति और सद्भाव के लिए अनेकों तरीके अपना कर कार्यरत हैं। प्रस्तुत हैंडबुक इस तरह के प्रयासों की एक और कड़ी है, जो प्रशिक्षण को आधार बनाकर शांति, सद्भाव और लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के उद्देश्य से तैयार की गई है।

ये हैंडबुक तीन भागों में विभाजित है; पहले हिस्से में कुछ अभ्यास और उनके साथ जुड़े फेसिलिटेटर नोट हैं जिनको आधार बनाकर प्रशिक्षक/फेसिलिटेटर अभ्यास चला सकते हैं। अभ्यास इस प्रकार तैयार किये गए हैं कि उनका उद्देश्य, उसमें चलने वाली विभिन्न प्रक्रियाएं, अभ्यास से संबंधित सामग्री और अनुमानित समय प्रशिक्षक/फेसिलिटेटर को स्पष्ट हो सके। अभ्यास के साथ जुड़े फेसिलिटेटर नोट विभिन्न प्रक्रियाओं को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। फेसिलिटेटर नोट में विषय से संबंधित थोड़ी-बहुत जानकारी भी दी गई है जिससे अभ्यास चलाने से पूर्व प्रशिक्षक विषय से परिचित रहे।

दूसरे हिस्से में साझी विरासत के विविध रूपों पर पठन-सामग्री मौजूद है। ये पठन-सामग्री प्रशिक्षकों और सहभागियों, दोनों ही के लिए उपयोगी है। इनमें से कुछ लेख सीधे अभ्यासों के साथ संबंधित हैं इसलिए आवश्यक है कि प्रशिक्षक/फेसिलिटेटर अभ्यास चलाने से पूर्व उन्हें पढ़ लें। अभ्यास पूरे होने के बाद उन लेखों की प्रतियां अतिरिक्त पठन-सामग्री के रूप में सहभागियों में बांट दी जानी चाहिए। अन्य लेख कार्यशाला समाप्त होने पर सहभागियों के बीच बांटे जाने चाहिए लेकिन यदि कार्यशाला के बीच उन विषयों से संबंधित प्रश्न उठते हैं तो उक्त सामग्री प्रश्नों पर स्पष्टीकरण के बाद ही सहभागियों में बांटी जा सकती है।

हैंडबुक के अंतिम हिस्से में अतिरिक्त/वैकल्पिक अभ्यास मौजूद हैं। ये अभ्यास इस दृष्टि से तैयार किये गए हैं कि यदि सहभागी उक्त अभ्यासों से संबंधित मुद्दों पर चर्चा के लिए उत्सुक हों तो इन अभ्यासों को इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन उपलब्ध समय को ध्यान में रखते हुए ही इन अभ्यासों को इस्तेमाल किया जाना चाहिए क्योंकि पहले हिस्से में मौजूद तमाम अभ्यास इस प्रशिक्षण के लिए लगभग अनिवार्य हैं। कार्यशाला की अवधि पूरे छह दिनों की रखी जानी चाहिए।

बेहतर होगा (अनिवार्य नहीं) कि वे प्रशिक्षक/फेसिलिटेटर जो इस हैंडबुक का इस्तेमाल करने वाले हैं वे स्वयं इस मुद्दे पर चलने वाले प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में भागीदारी निभाने के बाद ही यह कदम उठाएं।

खुर्शीद अनवर
नई दिल्ली
अप्रैल 2007

भूमिका...

जश्न साझी विरासत का

1980 के दशक की शुरुआत में जब मैं भारत और इसके सामाजिक कार्यों के कई रूपों से परिचित हुई तो कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण एवं क्षमता निर्माण को दिए गये महत्व, साथ ही ज्ञान के विस्तार के लिए सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देने वाले लोगों द्वारा मुहैया कराए गए अवसरों से मैं बहुत प्रभावित हुई।

दक्षिण एशिया में सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अंतरविषयक दृष्टिकोण के साथ सामाजिक विश्लेषण में अपनी पैठ बनायी है और यह संभवत: उससे भी पहले हुआ जब यह शब्द महत्वपूर्ण बन रहा था और सामाजिक विज्ञान में गहनता से इस पर बहस चल रही थी। यह तथ्य दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक राजनीति और औपनिवेशिक राष्ट्र निर्माण के बाद की ऐतिहासिक वास्तविकताओं पर आधारित है। धार्मिक, लैंगिक, जाति-संबंधी और जातीय पहचान ने समुदायों को परिभाषित किया है और इन पहचानों का उपयोग राजनीतिक और आर्थिक हित समूहों द्वारा संसाधनों तक पहुँच स्थापित करने, श्रम, लोग और बाजारों को नियंत्रित करने और लोकतांत्रिक संरचनाओं के प्रतिनिधित्व के साथ वोटों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ सत्ता में उनके इन हितों को आगे बढ़ाने के लिए लगातार किया गया है।

इसलिए पहचान और राजनीति का इंटरफ़ेस दक्षिण एशिया के लिए कोई नई बात नहीं है। हालाँकि, वर्तमान में इसका निर्माण और आकार अंतर्राष्ट्रीय संवाद द्वारा हुआ है। दुनियाभर में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी की बढ़ती शक्ति द्वारा राजनीतिक निर्णय का नियंत्रण इस क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले परिवर्तनों को जन्म देता है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक हितों में केवल कुछ लोगों के हाथों में ही लाभ निर्मित और केंद्रित हो जिसके लिए वंचित जनता समुदाय को भ्रमित और विभाजित करने की आवश्यकता है। इसलिए नियंत्रण और शक्ति का जो मैदान है वह प्रतीकात्मक और सांस्कृतिक क्षेत्र के रूप में पाया जाता है ताकि लोगों की पहचान का उपयोग फूट डालो और राज करो की तर्ज पर किया जा सके।

यह फूट डालो और राज करो का प्रचलन ऐसी विशेषताओं द्वारा चिह्नित होता है जिसमें कुछ लोगों को पृथक करते हुए अन्य के लिए जुड़ाव होने की भावना को सुनिश्चित किया जाता है, धार्मिक या जातीय रूप से 'स्वच्छ' राष्ट्र के मिथक की पूर्ति के लिए किया जाता है। जटिल और अक्सर धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाएं एवं मान्यताएं जो व्यापक स्तर पर दक्षिण एशिया में फैली हैं या तो अंतर्निहित शक्तियों के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक हैं, या तो बहुत लोकल हैं और केवल बहुत सीमित दायरे तक ही इनकी पहुँच है। यह भी देखा जा सकता है कि वह अलग-अलग पहचानों के बीच की सीमा को धुंधला करती हैं और उनकी अवहेलना करती हैं। इसलिए ये फूट डालो और राज करो की राजनीतिक परियोजना के लिए उपयोगी नहीं हैं, लेकिन शांति और आपसी समझ के लिए अथाह संभावनाएं रखते हैं। केवल 'हम' की 'अन्य' के प्रति न्यूनतावादी परिभाषाएँ ही आर्थिक व्यवस्था में हारे हुए व्यक्ति जो अपनी भावनाओं के गुलाम बनकर शक्तिशाली आर्थिक और राजनीतिक ताकतों से लड़ने की बजाय अन्य समुदायों के खिलाफ हिंसक रूप अपनाते हैं, उनके जीवन को एक नया अर्थ और मकसद दे सकती है।

इस प्रशिक्षण मैनुअल में, 'साझी विरासत' की अवधारणा का दृष्टिकोण इसके केंद्र में है : आईएसडी समाज को विभाजित करने वाले कारकों पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय, यह पता लगाने का विकल्प चुनती है कि वह कौन सी ताकतें है जो दक्षिण एशिया में लोगों को दी गयी उनकी पहचान से परे उन्हें एकजुट करती हैं। इसमें पूरे दक्षिण एशिया से कई कार्यशालाओं से अर्जित किया गया ज्ञान है, जिसमें सांस्कृतिक प्रथाओं के एक बड़े ख़जाने का पता लगाया गया है। जहां लोग अपने रोजमर्रा के जीवन में एक साथ आ रहे हैं, अपनी पहचान पर आधारित विभाजन की सीमाओं को पीछे छोड़ रहे हैं, उदाहरण/उल्लेख के लिए चाहे फिर वह लोक परंपराएं हो, भाषाएं, कविता और रंगमंच, नृत्य, त्योहारों, खेती की परम्पराएं या खानपान की आदत हों।

साझी विरासत को मजबूत करना, तनाव–टकराव का संवेदनशील तरीके से विश्लेषण और उस पर कार्य करने में योगदान देता है क्योंकि यह तनाव–टकराव और हिंसा को कम करता है, बजाय इसके कि लोगों को क्या एक–दूसरे से अलग करता है, यह इस बात पर जोर देता है कि लोगों को क्या जोड़ता है।

नया मैन्युअल एक सामूहिक बहुलतावादी और समावेशी दक्षिण एशिया और उसके बाहर के समाज को भी मजबूत करने और उसके लिए जश्न मनाने जैसे कारकों को आगे ले जाने का कार्य करता है। एक साझी समझ व्यक्तिगत रूप से शुरू होती है और सार्वजनिक रूप से चलती है। इसलिए समाज में किसी भी प्रकार का योगदान देने के लिए, किसी पहचान की राजनीतिक खेल का शिकार न होते हुए, खासकर, जब सामूहिक कार्रवाईयों में इसका उपयोग हो, अपने स्वयं की पहचान का चिंतन सबसे प्रभावी शुरुआती बिंदु है। यह मैनुअल हमें इस यात्रा में मदद करेगा। चलिए दक्षिण एशिया की साझी विरासत को जिएं और उसका जश्न मनाएं।

एडा कर्लाइस
ब्रेड फॉर द वर्ल्ड
बर्लिन, 9.8.2019

साथियो,

यह हैंडबुक 2007 में पहली बार प्रकाशित हुई। इन सालों में प्रशिक्षण के तौर-तरीकों में भी कुछ बदलाव हुए और इसका दायरा भी व्यापक हुआ। पहले-पहल उत्तर भारत के हिंदी पट्टी इलाकों से शुरू हुआ प्रशिक्षण का यह सफ़र, दक्षिण भारत, पूर्वोत्तर भारत समेत दक्षिण एशिया के अन्य देशों तक भी पहुँचा। साथ ही अलग-अलग समूहों को भी संबोधित करने की शुरुआत हुई। ग्रामीण क्षेत्रों में, शहर की मलिन बस्तियों, स्कूल-कॉलेजों में भी प्रशिक्षण गतिविधियाँ लगातार चल रही हैं। साथ ही इस विषय पर और प्रशिक्षक तैयार करने के लिए प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण भी आयोजित किए गए।

इस विस्तृत और लंबे अनुभव व प्रशिक्षकों से मिले फीडबैक के आधार पर पिछले कुछ समय से इस हैंडबुक में कुछ फेरबदल की ज़रूरत महसूस हो रही थी। मूल अवधारणा में बगैर कोई बदलाव किए आई.एस.डी. की टीम ने कुछ मामूली बदलाव किए हैं। मूल हैंडबुक में तीन खंड थे जबकि थोड़े फेरबदल के साथ अब भी तीन ही खंड हैं। पहले खंड में अभ्यास तथा फेसिलिटेटर नोट के साथ ही उससे जुड़ी पठन सामग्री या संदर्भ सामग्री दी गई है। फेसिलिटेटर अपनी सुविधा, समूह की स्थिति और समय की उपलब्धता के हिसाब से उसका इस्तेमाल कर सकते हैं।

दूसरे खंड में त्यौहार, पहनावा, टेक्सटाइल, लोकवाद्य, हस्तशिल्प और स्मारकों की कुछ झलकियां दी गई हैं और साथ ही उनका संक्षिप्त विवरण भी है जो फेसिलिटेटर के लिए सहायक होगा।

तीसरे खंड में कुछ और पठन सामग्री है जो साझी विरासत और उसके दक्षिण एशियाई संदर्भों की एक व्यापक समझ बनाने में हमारी मदद करेगा। हमारा आग्रह है कि इस खंड को आप ज़रूर पढ़ें और गुनें। आप इसे प्रतिभागियों से भी साझा कर सकते हैं।

हम पूरी विनम्रता से यह कहना चाहते हैं कि हमने अपनी ओर से एक ख़ाका आपके सामने रखा है पर यह कोई आख़िरी ख़ाका नहीं है। हमारे, आपके अनुभव इसे और पुख्ता करेंगे। आप अपनी ज़रूरत व परिस्थिति के हिसाब से उचित गतिविधि, संदर्भ सामग्री, पठन सामग्री इस्तेमाल करने को स्वतंत्र हैं। कृपया अपने प्रयोगों व अनुभवों को हमारे साथ भी साझा करें।

आईएसडी टीम

समन्वयवाद और बहुलता

हमारे देश की सामाजिक विरासत के दो बुनियादी तत्व हैं—समन्वयवाद और बहुलता। मगर इन दोनों शब्दों को एक-दूसरे के पर्यायवाची के तौर पर या एक-दूसरे की जगह इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। मिसाल के तौर पर, मुमकिन है, या कम से कम सोचा तो जा ही सकता है कि कई ऐसे समाज भी होंगे जहां समन्वयवादी तत्व तो दिखाई देते हों मगर जहां बहुलता न हो या उसमें बहुलता तो हो मगर समन्वय का अभाव हो। भारतीय सामाजिक संरचना में निहित परंपराओं की असली ताकत इसी बात में निहित है कि ये परंपराएं बहुलवादी भी हैं और समन्वयवादी भी हैं। यहां बहुलवाद से हमारा आशय मुख्यत: धार्मिक और भाषायी परंपराओं की विविधता और बहुलता से है। और यह बहुलता इस लिहाज से समन्वयवादी है कि इन सभी परंपराओं में कुछ साझा तत्व मौजूद हैं। ये परंपराएं उलझे हुए घेरों की तरह आपस में गुंथी हुई हैं, किनारों पर वह एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं—और इसके बावजूद उनकी अपनी निजता, उनकी अपनी पृथकता भी बनी रहती है। इस बात को एक बार फिर दोहराया जा सकता है कि इस बहुलता का लाज़िमी तौर पर समन्वयवादी या साझा होना जरूरी नहीं है। यह तो एक ठेठ भारतीय खासियत है। हमारी सांस्कृतिक विरासत का यह भारतीय अनूठापन ही पिछली दो सदियों से पश्चिमी विद्वानों को बार-बार अचंभित करता आया है। उन्नीसवीं सदी के आखिर में और बीसवीं सदी की शुरुआत में ब्रिटिश समाजशास्त्रियों ने भारत की बहुलता पर तो खूब ध्यान दिया मगर इन परंपराओं के बीच मौजूद परस्पर घनिष्ठता को अनदेखा कर दिया। नतीजतन, उन्होंने भारत को एक ऐसे समाज के रूप में चित्रित किया जिसमें एक-दूसरे से कटे हुए बहुत सारे खंड मौजूद हैं। असल में यह विद्वान हमारी सामाजिक संरचना के सिर्फ ऊपरी सिरे को ही छू पा रहे थे। उन्हें भारत की बहुलता तो दिखाई देती थी मगर इन विविध परंपराओं के बीच मौजूद अंतर्संबंध दिखाई नहीं देते थे। पिछले दो या तीन दशकों के दौरान, खासतौर से सोवियत संघ के विखंडन के बाद पश्चिमी विद्वानों को उम्मीद थी कि अब भारत भी बिखर जाएगा मगर भारतीय सामाजिक संरचना के लचीलेपन से वह हतप्रभ हैं। वह इस बात को देखकर हैरान हैं कि यह समाज बिना किसी बाहरी मदद के भी अपनी भीतरी विभाजक प्रवृत्तियों का मुकाबला कैसे कर लेता है। ज़ाहिर है कि भारत को बिखरने से बचाने वाला सबसे बड़ा तथ्य यही है कि भारत की बहुलता परस्पर समन्वय और जुड़ाव के संबंधों पर आधारित है।

बहुलता और समन्वयवाद के इस अनूठे भारतीय संगम को अब तक 'विविधता में एकता' जैसे कमोबेश नाकाफी और असंतोषजनक पदों से व्यक्त किया जाता था। लेकिन भारतीय समन्वयवाद को भारतीय एकता या भारतीय एकीकरण का पर्याय समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। भारत की विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराएं आमतौर पर एक-दूसरे के साथ संवाद करती रही हैं मगर वह कभी भी एक-दूसरे में विलीन नहीं हुईं। यानी उन्होंने एक एकीकृत परंपरा को जन्म नहीं दिया। भारत की बहुलता और समन्वयवाद में न तो कभी संस्कृतियों के बीच कोई टकराव रहा है और न ही उनके एक-दूसरे में खो जाने का खतरा रहा है। कहने का मतलब यह है कि भारत की विविध परंपराओं में एक-दूसरे के साथ चलते चले जाने का बेजोड़ गुण रहा है।

ऐसा भी नहीं है कि भारतीय सामाजिक संरचना के कुछ खास संस्थान बहुलवादी रहे हैं और कुछ दूसरे संस्थान समन्वयवादी रहे हैं। दो उदाहरणों से इस बात को अच्छी तरह साफ किया जा सकता है कि भारत के सामाजिक संस्थानों में ये दोनों ही पहलू निहित रहे हैं। यह सौ फ़ीसदी सही बात है कि भारत बहुत सारे धर्मों का घर है। यहां एक तरफ तो ब्राह्मणवाद, बौद्ध धर्म और जैन धर्म की देसी स्थानीय परंपराएं सदियों से फलती-फूलती रही हैं वहीं दूसरी तरफ धरती के अलग-अलग कोनों में जन्मी कई दूसरी परंपराओं ने भी यहां आसरा लिया है। जुरथुष्ट्रवाद और ईसाईयत इसकी बेहतरीन मिसालें हैं। कुछ लोगों को यह जानकर शायद ताज्जुब हो कि हमारे देश में ईसाई धर्म यूरोप से भी पहले पहुंच चुका था। मध्यकाल में इस्लाम

और सिख धर्म इन धर्मों की फेहरिस्त में नए मेहमान थे। गौर करने वाली बात यह है कि जहां एक तरफ ये सभी परंपराएं (संभवत: जैन धर्म के अलावा) अक्षुण्ण रही हैं वहीं दूसरी तरफ इन सब के भीतर कुछ साझा पहलू भी पैदा हुए हैं। पीपुल ऑफ इंडिया सर्वे के मुताबिक सभी प्रमुख भारतीय धर्मों में जाति संरचना भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। हिंदू धर्म में लगभग 3,000 जातियां हैं, इस्लाम में लगभग 500, सिखों में लगभग 150 और ईसाई धर्म में भी लगभग 150 जातियां मौजूद हैं। इसका मतलब है कि अब जाति व्यवस्था न केवल एक हिंदू संस्था के रूप में बल्कि एक ठेठ भारतीय संस्था के रूप में जड़ें जमा चुकी है। और यह एक ऐसा पहलू है जो भारतीय इस्लाम को मूल अरबी इस्लाम से भी भिन्न कर देता है। हमारे देश में प्रचलित इस्लाम अरबी की बजाय भारतीय ज़्यादा है, और इसके बावजूद वह बुनियादी तौर पर इस्लामिक ही है।

भाषा एक और ऐसा क्षेत्र है जहां समन्वयवाद और बहुलता, एक साथ दिखाई देते हैं। उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी की शुरुआत में प्रसिद्ध भाषाविद् जॉर्ज ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं का व्यापक अध्ययन किया था। इसी अध्ययन के आधार पर उन्होंने लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया नामक अपनी प्रख्यात रचना लिखी। इस किताब में उन्होंने बताया है कि भारत के लोग कुल (कम से कम) 179 भाषाएं बोलते हैं और इन भाषाओं में 544 बोलियां मौजूद हैं। इस भाषायी विविधता ने भारत को सही अर्थों में एक बहुभाषिक समाज बना दिया है। मगर उन्होंने कहा कि ये सारी बोलियां और भाषाएं महज चार भाषा परिवारों (भारतीय-आर्यन, द्रविड़ियन, ऑस्ट्रिक और साइनो-तिब्बतन) से निकली हैं। और भी मजे की बात यह है कि ज़्यादातर प्रमुख भारतीय भाषाएं मिलते-जुलते शब्द भंडार से पैदा हुई हैं और उनमें बहुत सारे साझा आयाम मौजूद हैं। इसके बावजूद, कोई भाषा एक-दूसरे में विलीन नहीं हुई और आज भी किसी एक भारतीय भाषा का दावा करना बेवकूफी होगा।

हमारी इसी परंपरा पर पिछले दो दशकों के दौरान एक सोचे-समझे ढंग से हमला किया जा रहा है। यह हमला उन तमाम संस्थानों को कमजोर करने और क्रमश: नष्ट कर देने की कोशिश है जिन्होंने भारत की सांस्कृतिक विरासत को सींचा है। इसीलिए गुजरात में 268 से ज़्यादा सूफी मज़ारों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया। इस विरासत की रक्षा और विकास के लिए जरूरी (मगर नाकाफी) है कि पहले उसके सार-तत्व को पकड़ा जाए। यह काम भाषा और संस्कृति, सूफी और भक्ति परंपराओं, ललित कलाओं, शिल्प, संस्कृति और चित्रकलाओं तथा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अध्ययन-मनन के ज़रिए ही सबसे अच्छी तरह किया जा सकता है।

साहित्य और भाषा की दुनिया भारत की साझी विरासत की साक्षी है। बारहवीं सदी के बाद से देश के ज़्यादातर हिस्सों में भारतीय साहित्य एक निरंतर प्रवाहमयी और अविचल धारा के रूप में फलता-फूलता रहा है। धर्म और राष्ट्रीयता के आधार पर इस साहित्य की पहचान तय करना नामुमकिन भले ही न कहा जाए मगर बहुत मुश्किल जरूर था। अगर साहित्य में कहीं लकीर खींची जा सकती थी तो वह केवल शास्त्रीय साहित्य और शेष साहित्य के बीच ही खींची जा सकती है। शास्त्रीय साहित्य ज़्यादातर संस्कृत और फ़ारसी में लिखा गया है। अमीर खुसरो (1254-1323) हिंदवी परंपरा के सबसे पुराने और सबसे प्रख्यात कवियों में से एक रहे हैं। उन्होंने फ़ारसी और हिंदवी-हिंदुई (11वीं-12वीं सदी के बाद हिंदुस्तान के इलाके में बोली जाने वाली भाषाओं-बोलियों का एक समूह), दोनों भाषाओं में अपना साहित्य लिखा है। मगर उन्हें हिंदवी-हिंदुई में लिखी अपनी रचनाओं पर बड़ा मान था। फ़ारसी भाषी श्रोताओं को संबोधित करते हुए उन्होंने एक शेर कहा है जो इस बात की सबसे बढ़िया गवाही देता है। उनका यह शेर था : ''**चुमन टूटी-ए-हिंदम, अर रस्त पुर्सीय ज़े मन हिंदुई पुर्स, ता नग्ज़ गोयम (मैं तो एक भारतीय तूती हूं, अगर तुम मुझसे बात करना चाहते हो तो मुझसे हिंदुई में बात करो ताकि मैं तुम्हें यहां की खूबसूरत चीजों के बारे में बता सकूं)।**'' बारहवीं-तेरहवीं सदी के बीच संत बाबा गोरखनाथ ने भी खुद को दुनियादारी के इन शब्दों में बयान किया : ''**उत्पति हिंदु जरना जोगी अकल परी मुसलमानी (मेरा जन्म हिंदू, रंग रूप जोगियों का और बुद्धि मुसलमानों की है)।**'' बेलग्राम इलाके (मौजूदा उत्तर प्रदेश का हिस्सा, हरदोई के पास) के मीर जलील, रसखान, अब्दुल वाहिद बेलग्रामी, मीर मीरन जैसे बहुत सारे कवियों ने ऐसी कविताएं लिखीं जिन पर किसी धर्म की छाप दिखाई नहीं देती। उनमें से एक ने लिखा था : ''**पैमी हिंदु तुरक मैं, हरी रंग रह्यो समायय देवल और मसीत में, दीप एक ही भाय (मैं हिंदू भी हूं और मुसलमान भी और अपने ईश्वर में खोया हुआ हूं, मंदिर हो या मस्जिद, मुझे दोनों के लिए एक ही दीया काफी है)।**''

इस तरह की अनगिनत मिसालें दी जा सकती हैं। इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि जिस साझा साहित्यिक परंपरा को कबीर के साथ जोड़कर देखा जाता है, वह केवल कबीर तक ही सीमित नहीं थी। इसमें कोई शक नहीं कि कबीर इस परंपरा के एक शिखर बिंदु थे और उन्होंने इसे सबसे बेहतरीन अभिव्यक्ति भी दी। मगर यह बारहवीं से अठारहवीं सदी तक लोकप्रिय साहित्य की आम भाषा थी। इसी तरह भाषाओं के क्षेत्र में भी बहुत सारी बोलियों की ऐसी सीमाएं निर्धारित करना मुश्किल था जिनके सहारे उन्हें औरों से अलग करके देखा जा सके। बहुत बार एक ही भाषायी भंडार को संबोधित करने के लिए कई तरह के नामों (हिंदी, हिंदुई, हिंदवी, देहलवी, ज़बान-ए-हिंदोस्तान, दक्खनी, भाखा, ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला, ज़बान-ए-उर्दू और उर्दू) का इस्तेमाल किया जाता था। अठारहवीं सदी से पहले हिंदी और उर्दू का अलग-अलग इतिहास ढूंढना बेवकूफी होगा। उस ज़माने तक इन दोनों भाषाओं का ऐसा कोई पृथक इतिहास था ही नहीं। आधुनिक हिंदी और उर्दू भाषाएं अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में एक साझा भाषायी स्रोत से पैदा हुईं और उनकी जिस पृथकता को आज हम स्वाभाविक मान लेते हैं, वह शुरू से मौजूद नहीं थी। यह तो बाद में किया गया एक अस्वाभाविक और कृत्रिम विभाजन था (मसलन, क्या कोई बता सकता है कि अमीर खुसरो ने किस ज़बान में लिखा है, उर्दू में या हिंदी में?)। ऐसी साझा विशिष्टताओं की ढेरों मिलती-जुलती मिसालें कला व शिल्प, और संगीत व चित्रकलाओं की दुनिया में भी ढूंढी जा सकती हैं।

भारत की समन्वयवादी और बहुलवादी परंपराओं को आधुनिक काल में हमारे साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन से एक नया बल मिला। एक बड़े फलक पर देखें तो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन असल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ युद्ध से कहीं बढ़कर था। जब भारत की बहुलता आधुनिकीकरण से पैदा हो रही समरूपता के सामने खतरे में थी, उस समय राष्ट्रीय आंदोलन ने ही हमारी इस सामाजिक विरासत की रक्षा का उद्यम किया। इसी विरासत से धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद के ताने-बाने बुने गए। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता के आधुनिक स्पंदनों के लिए हमें भारतीय समन्वयवाद और बहुलता में निहित परंपरागत मूल्यों को कुर्बान करने की जरूरत नहीं पड़ी। इस तरह हम अपनी परंपराओं के समृद्ध भंडार को छोड़े बिना ही राजनीतिक आधुनिकता की राह पर चले (और एक अजनबी शासन का मुकाबला कर पाए)। इसका मतलब है कि भारतीय समाज अपने परंपरागत संसाधनों की बहुत भारी कीमत चुकाए बिना आधुनिकता के पहले चरण में दाखिल हो गया। अगर राष्ट्रीय आंदोलन की कोशिशों से अब तक हम अपने समन्वयवाद और बहुलता की हिफाज़त कर पाए हैं, इससे हमने फायदे हासिल किए हैं, तो अब भी हमें इस विपुल संपदा को हर सूरत में नष्ट होने से बचाना होगा।

इन परंपराओं को सदियों के क्रम में बड़ी एहतियात और लगन के साथ सींचा गया है। इन्होंने ही भारतीय लोकतंत्र को उसके बुनियादी तत्व मुहैया कराए हैं। मगर उन परंपराओं को भी केवल लोकतांत्रिक परिस्थितियों में ही सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। इसीलिए, हमें इस समझ के साथ आगे बढ़ना चाहिए कि जो ताकतें इन परंपराओं के लिए खतरा बन रही हैं वह असल में लोकतंत्र के लिए भी खतरा हैं।

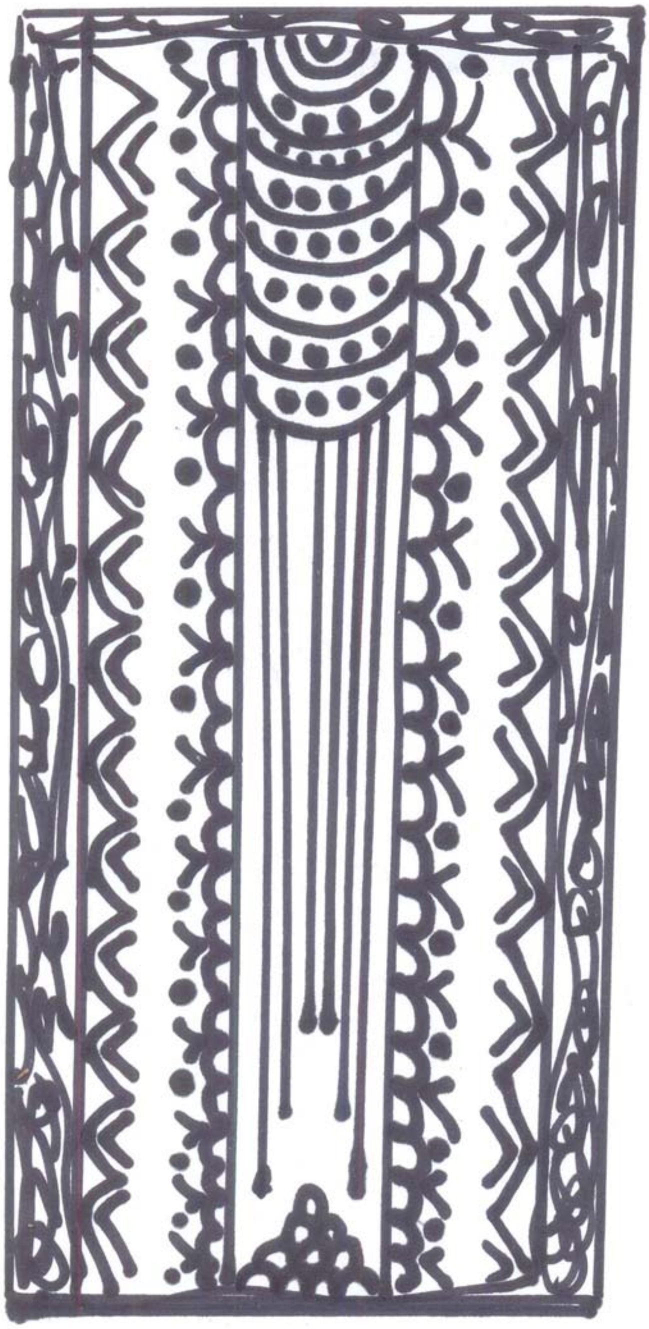

परिशिष्ट-१

अभ्यास और फेसिलिटेटर नोट

अभ्यास 1–पहला चरण

संवाद की शुरुआत

⊙ **उद्देश्य**

आपसी परिचय और सह- भागियों को सहज बनाना।

यह अभ्यास दो चरणों में होगा।

शुरुआत में सहभागी एक-दूसरे से असहज होते हैं। माहौल बहुत औपचारिक होता है, सभी दबाव में होते हैं। सहभागियों को ऐसे माहौल से बाहर निकालने के लिए कुछ गतिविधियां की जा सकती हैं।

गतिविधियाँ

- फेसिलिटेटर सहभागियों को कहें कि वे पूरे हॉल में टहलें। टहलते हुए एक-दूसरे के सामने आने पर सांकेतिक या बोलकर अभिवादन करें और फिर आगे बढ़ें। यह प्रक्रिया तब तक चलाई जा सकती है जब तक कि सभी सहभागी एक-दूसरे का अभिवादन न कर लें। फेसिलिटेटर स्वयं भी इस प्रक्रिया में शामिल हों।
- अलग-अलग तरह के चित्र, रंग आदि को चार अलग-अलग कोनों में चिपका कर प्रतिभागियों से कहें कि अपनी पसंद के साथ खड़े हो जाएं। और वहाँ पर जो समूह बना है, वे आपस में कुछ निश्चित बिंदुओं (जैसे कि अपने शहर की ख़ासियत, मौसम आदि) पर बातचीत करें।
- धीमा संगीत बजाकर हाल में घूमते रहे और अचानक जब संगीत बंद हो और फेसिलिटेटर कोई भी गिनती बोले जैसे कि 3 या 4 तो उतने-उतने प्रतिभागियों के समूह बन जाएं और आपसी परिचय पर चर्चा करें। या वे उसी कोने से अपना-अपना परिचय बताएं।

फेसिलिटेटर इन गतिविधियों के अलावा सहभागियों को सहज करने के लिए अन्य गतिविधियों का भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

आवश्यक सामग्री

रंगीन चार्ट या पहले से तैयार चित्र, लैपटॉप, स्पीकर, संगीत की सीडी

समय

20–30 मिनट

अभ्यास 1–दूसरा चरण

व्यक्तिगत परिचय

⊙ उद्देश्य
आपसी परिचय और सह- भागियों को सहज बनाना।

इस अभ्यास के पहले चरण की गतिविधियों के साथ यह उम्मीद की जा सकती है कि सहभागी अब सहज होंगे। अब उनके साथ परिचय की शुरुआत की जा सकती है।

प्रक्रिया

बड़े समूह में निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर परिचय दिया जाए

- आपका नाम
- आप क्या करते हैं
- आपका कार्यक्षेत्र
- आपकी रुचियां
- कार्यशाला से आपकी अपेक्षाएं

इसके अलावा परिस्थिति व माहौल के मद्देनज़र आप कुछ और बिंदु भी जोड़ सकते हैं :

- आपका सपना
- आप क्या बनना चाहते हैं
- आपकी ज़िंदगी का अहा पल
- आपके क्षेत्र की प्रसिद्ध चीज
- अपने साथी के बारे में मज़ेदार चीज़

सुझाव

यह प्रशिक्षण अलग-अलग समूहों के साथ अलग-अलग परिस्थितियों में हो सकता है तो उसके हिसाब से परिचय के बिंदुओं व तरीकों में फेरबदल किया जा सकता है।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्कैच पैन, टेप

समय

01.30 घंटा

फेसिलिटेटर नोट

ऐसा देखा गया है कि सम्मेलनों, सेमिनारों, कार्यशालाओं तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों के दौरान कई बार परिचय-सत्र मात्र औपचारिकता बन जाता है। सहभागियों के नाम व कार्य की जानकारी लेकर हम अगले पड़ाव की ओर बढ़ने की सोचते हैं। इसका कारण यह है कि हम में से अनेक परिचय-सत्र को उतना महत्व नहीं देते जितना देना चाहिए। कई बार हमारे दिमाग में यह भी स्पष्ट नहीं रहता कि लम्बे परिचय का औचित्य क्या है ?

दरअसल, केवल सहभागियों के नामों और उनके कार्य को जानना ही काफी नहीं। महत्वपूर्ण कार्य है नये माहौल और नये साथियों के सान्निध्य में उन्हें सहजता का अहसास कराना। इसलिए, समूह की मन:स्थिति के संदर्भ में परिचय-सत्र के महत्व को समझना बहुत महत्वपूर्ण है।

लेकिन, यह तभी संभव है जब सहभागी एक दूसरे के बारे में जानें, उन्हें समझें, एक दूसरे की मंशाओं पर विश्वास करें और सहजता का अनुभव करें। इस स्थिति पर पहुंचने का केवल एक ही रास्ता है आपसी परिचय। सहभागियों का आपसी परिचय जितना विस्तृत और बहुआयामी होगा, उनमें उतनी ही निकटता आयेगी। वे एक दूसरे से खुलने लगेंगे। इसलिए, जितनी जल्दी हम सहभागियों के मन में उठ रही जिज्ञासाओं को दूर करेंगे, उतनी ही जल्दी हम अपने उद्देश्यों तक पहुंच पायेंगे।

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 2

साझी विरासत की अवधारणा

⊙ उद्देश्य

सहभागियों में साझी विरासत की अवधारणा की समझ विकसित करना।

प्रक्रिया

- फेसिलिटेटर कार्यक्रम के लिए उपयुक्त माहौल भी तैयार करे।
- सहभागियों के समक्ष अभ्यास के उद्देश्यों को रेखांकित करे।
- सहभागियों से साझी विरासत की अवधारणा पर अपनी समझ को अपने नोट पैड पर लिखने के लिए कहें। इस कार्य के लिए उन्हें 15 मिनट का समय दिया जाए ।
- व्यक्तिगत काम पूरा होने के पश्चात, बिना किसी तरतीब के छोटे समूह बनाए जाएं। यह काम गिनती द्वारा किया जा सकता है।
- सहभागियों को बतायें कि उनके स्वयं के स्तर पर निकाली गई साझी विरासत की अवधारणा को वे अपने समूह के साथियों को बतायें तथा आपसी चर्चा के बाद 'साझी विरासत' पर एक समान समझ विकसित करें ।
- सामूहिक समझ को चार्ट पर लिखें।
- प्रस्तुतिकरण

सुझाव

फेसिलिटेटर इस बात पर विशेष ध्यान दे कि वे सहभागियों को ये अवश्य स्पष्ट करें कि इस सत्र का उद्देश्य मात्र साझी विरासत को परिभाषा में बांधने का नहीं है।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्केच पेन, टेप

समय

02.30 घंटा

फेसिलिटेटर नोट

किसी भी कार्यशाला के लिए पहले दो अभ्यास हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं। यह अभ्यास कार्यशाला के आगामी सत्रों के लिए जमीन तैयार करते हैं। भले ही, कार्यशाला कितनी अपेक्षाएं जगाती हो, उसकी विषय वस्तु कितनी सशक्त हो, सभी कुछ इन्हीं अभ्यासों पर निर्भर करता है। यह अभ्यास कार्यशाला की प्रक्रिया को उसके लक्ष्य तक भी पहुंचा सकते हैं और बीच में डुबो भी सकते हैं। फेसिलिटेटर को प्रौढ़ शिक्षण के सिद्धांतों को हमेशा याद रखना चाहिए। फेसिलिटेटर सहभागियों को यह आभास दिलाए कि साझी विरासत की अवधारणा को परिभाषित करने का कार्य सहभागियों का है, उसका नहीं।

पहला कदम है सहभागियों के समक्ष अभ्यास पूरी तरह स्पष्ट करना। यह सामान्य विषय नहीं जिसके बारे में सहभागियों को प्रतिदिन के जीवन में प्रतिक्रिया करने का अवसर मिलता हो। आप जैसे ही साझी विरासत शब्द का उच्चारण करेंगे, सहभागियों का मस्तिष्क स्कूल की किताबों में पढ़ाई गई विरासतों यानि, ऐतिहासिक महत्व की इमारतों व खंडहरों की ओर चला जाएगा। संभव है, कई उनके बारे में सोचने भी लगें। यदि आप अपेक्षा करते हैं कि वे इस शब्द की अवधारणा को बिना किसी मदद के समझ पाएंगे तो यह उनके साथ ज़्यादती है। फेसिलिटेटर को यह बात कई प्रकार से उन्हें समझानी होगी। सहभागियों से मात्र यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे साझी विरासत पर अपनी समझ नोट पैड पर लिख लें। फेसिलिटेटर को अपनी बात कई तरह से समझानी होगी, जैसे, 'साझी विरासत की परिकल्पना कैसे की जाए', 'साझी विरासत से क्या आशय है', 'साझी विरासत को हम कैसे परिभाषित करते हैं', आदि। बातचीत में, विस्तार में जाए बिना ही, फेसिलिटेटर को सामान्य उदाहरणों के द्वारा कुछ संकेत देने होंगे। संकेत सामान्य उदाहरणों के होने चाहिए, विशिष्ट होने की स्थिति में परेशानियां भी खड़ी हो सकती हैं। संभव है सहभागी विशिष्ट उदाहरणों को पकड़ लें और उन्हीं में फंस कर रह जाएं। फेसिलिटेटर को लगातार यह बात दोहराते रहनी चाहिए कि उसके द्वारा दिये गये उदाहरण साझी विरासत के अनेक उदाहरणों में से एक हैं। उदाहरण तो हर व्यक्ति के जीवन में गुंथे रहते हैं।

साझी विरासत के मायने हैं कि, लोग मिल कर कैसे रहते हैं, कैसे आपस में सहयोग करते हैं, और एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करते हैं और किस तरह से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। हमारा सामुदायिक जीवन, साझी विरासत का एक जीता-जागता उदाहरण है। हमारी भाषा, हमारा पहनावा, और खान-पान सभी में साझी विरासत ही परिलक्षित होती है। इसी के आधार पर हम अपने अतीत और वर्तमान से जुड़ते हैं। अपनी संस्कृति और साहित्य रूपों से जुड़ते हैं। इसी का प्रतिबिंब हमारे विश्वासों और मान्यताओं में नजर आता है।

जैसे ही सहभागी दिया गया कार्य समाप्त करें, उन्हें छोटे समूहों में बांट दिया जाए जिससे वे समूह में विचारों को आदान-प्रदान करके समान समझ विकसित कर सकें।

प्रस्तुतिकरण समाप्त होने के बाद फेसिलिटेटर पूरी चर्चा को समेटे और उभरी हुई सामूहिक समझ के साथ-साथ अपने विचार भी रखे।

नोट :
मुद्दे पर और बेहतर समझ बनाने के लिए फेसिलिटेटर पठन सामग्री 1 (पेज नं 18 व 19) पढ़ें।

साझी विरासत क्या है : यह कैसे बनती है?

कई बार आपने देखा होगा कि जब कभी भी ऐतिहासिक और मौजूदा समय और परिवेश के लिहाज से संस्कृति की चर्चा की जाती है तो परंपरा, विरासत और रिवाज़ जैसे शब्द भी खुद-ब-खुद चर्चा में आ जाते हैं। इन शब्दों का मतलब क्या है? और संस्कृति से हमारा क्या मतलब है? साझी विरासत के साथ संस्कृति का क्या संबंध है? क्या हर संस्कृति बुनियादी तौर पर साझा होती है या कोई ऐसी संस्कृति भी होती है जिसे हम गैर-साझी सांस्कृतिक विरासत कह सकें? संस्कृति हमें विरासत में कैसे मिलती है?

विरासत का मतलब होता है कोई चीज विरसे में पाना। विरासत और उत्तराधिकार (कानूनी शब्द, जिसका आशय विरासत में धन या संपत्ति पाने से होता है) जैसे शब्द हमें अतीत का अहसास कराते हैं। इसके साथ ही ये शब्द इस बात का भी बोध कराते हैं कि हमारे अतीत का कुछ हिस्सा या पूरा का पूरा अतीत आज भी हमारे साथ है, हमारे पास मौजूद है। जब हम सांस्कृतिक विरासत की बात करते हैं तो आमतौर पर हम अतीत की संस्कृति के उन पहलुओं का ज़िक्र कर रहे होते हैं जो या तो हमारे पास फिलहाल मौजूद हैं या जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। संस्कृति के यही पहलू हमारी संपत्ति और हमारे संसाधन हैं। साझे का आशय एक विशेष किस्म की संस्कृति से है जो मिली-जुली है, विखंडित नहीं है। कोई संस्कृति साझी के अलावा पृथक (या विखंडित या गैर-साझी) भी हो सकती है। कुल मिलाकर ध्यान देने वाली बात यह है कि समग्रता में कोई भी संस्कृति न तो पूरी तरह साझा होती है और न ही पूरी तरह गैर-साझा। हर संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो दूसरी संस्कृतियों से मिलते-जुलते होते हैं, जिन्हें हम साझा सांस्कृतिक तत्व कह सकते हैं, जबकि उसके कुछ तत्व उसकी अपनी खासियत होते हैं, जो प्राय: औरों में नहीं पाए जाते।

संस्कृति को व्यवहारों और तौर-तरीकों के एक ऐसे समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हमारा ज्ञान, हमारी मूल्य-मान्यताएं और नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज़, जीवनशैली और ऐसी सभी क्षमताएं और आदतें शामिल होती हैं जो हमें समाज का हिस्सा होने के नाते मिलती हैं। किसी खास समाज की संस्कृति को समझने का एक तरीका यह भी है कि हम उसकी जीवनशैली (आहार, वेशभूषा, बोली, रीति-रिवाज़ आदि), सांस्कृतिक उत्पादों (कला एवं शिल्प, संगीत, नृत्य, सौंदर्यशास्त्र आदि) और नैतिकता (नीतिशास्त्रीय अवधारणाएं, आदर्श, अच्छे और बुरे की समझ, अपेक्षित और अनपेक्षित आदि)—इन तीन अवधारणाओं का अध्ययन करें। ये तीनों चीजें उस जटिल समुच्चय का अभिन्न हिस्सा हैं जिसे संस्कृति कहा जाता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन तीनों चीजों को मनुष्य तभी व्यवहार में ला सकते हैं जब वह किसी समाज के सदस्य हों। समाज के बिना, अकेले रहने पर उनकी क्षमता सीमित हो जाती है। इसीलिए, हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी की व्यक्तिगत नहीं बल्कि एक पूरे समूह या समाज की परिघटना होती है। जब हम एक साझा संस्कृति की बात करते हैं तो हमारा आशय इस बात से होता है कि संस्कृति के उपरोक्त सभी पहलुओं में एक साझापन मौजूद था और वह अभी भी कायम है।

भारतीय संस्कृति की साझी विरासत हमारे इतिहास और हमारे हालात की एक अनूठी उपज है। हमें यह विरासत इतिहास की एक लंबी निरंतरता के ज़रिए हासिल हुई है। इस विरासत को 'सत्ता के मूल्यों' और 'मानवीय मूल्यों', इन दोनों पदों के ज़रिए समझना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि इस विरासत को यह खास शक्ल देने में हमारे आम लोगों और शासकों, दोनों ने अपने-अपने हिस्से का योगदान दिया है। इस विरासत का एक

अहम पहलू उसका समन्वयी और बहुलवादी स्वरूप रहा है।

नोट :

इस पठन सामग्री को साझी विरासत की निर्माण प्रक्रिया की संदर्भ सामग्री के रूप में भी देखा जा सकता है।

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 3

साझी विरासत की निर्माण प्रक्रिया

⊙ उद्देश्य

सहभागियों में साझी विरासत की निर्माण-प्रक्रिया की समझ विकसित करना।

प्रक्रिया

- पिछले अभ्यास को वर्तमान अभ्यास की पृष्ठभूमि बनाएं।
- निर्माण प्रक्रिया के संदर्भ में विस्तृत चर्चा करने व समझ विकसित करने हेतु सहभागियों को इनपुट देना जरूरी है। फेसिलिटेटर इनपुट को और ज्यादा रोचक बनाने के लिए दृश्य माध्यम जैसे कि डाक्युमेंट्री फिल्म और पठन सामग्री का इस्तेमाल कर सकते हैं।
- समूह कार्य।
- प्रस्तुतिकरण।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्केच पेन, टेप, डाक्युमेंट्री, प्रोजेक्टर, पठन सामग्री।

समय

02.00 घंटा

फेसिलिटेटर नोट

यह सामान्य मुद्दा नहीं है। अत:, ऐसा अभ्यास किसी भी समूह के लिए कठिन हो सकता है। वस्तुत: यह एक बहुत ही जटिल मुद्दा है। यहां तक कि इस मुद्दे पर बुद्धिजीवियों में भी मतभेद हैं। सहभागियों में उत्सुकता होना लाज़िमी है। हो सकता है वे उद्देश्यों के संबंध में बार-बार सवाल करें और उन पर स्पष्टीकरण मांगें। लेकिन इसका अर्थ कदापि नहीं कि वे सवालों की समझ नहीं रखते। अनेक सहभागी समस्या पर चिंतन-मनन तो आरंभ कर देंगे लेकिन समस्या का सूत्र पकड़ने में दिक्कत हो सकती है। इस स्थिति में फेसिलिटेटर को अपनी ओर से सूत्र पकड़ाने का काम करते रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से सुझाव देते रहने चाहिएं। फेसिलिटेटर को पिछले अभ्यास का एक उदाहरण लेकर साझी संस्कृति के किसी एक पक्ष और तत्व के निर्माण की प्रक्रिया को समझाना चाहिए। यहां इस बात का ज़िक्र किया जाना चाहिए कि साझी विरासत का निर्माण स्वत: स्फूर्त और सायास दोनों प्रकार से होता है। विचारों के आदान-प्रदान एवं प्रतिदिन की गतिविधियों के दौरान क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोग विशिष्ट जीवन-शैली विकसित कर लेते हैं जो सबकी साझी होती है। साझी संस्कृति, साझे तौर-तरीकों, जीवन-व्यवहारों, विश्वासों और विवेक के योग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसका क्षेत्र के भूगोल, जलवायु, ऋतुओं, फसलों और साहित्यिक परंपराओं से गहरा संबंध होता है। दरअसल यह सभी तत्व मिल कर एक विशिष्ट संस्कृति और परंपरा का निर्माण करते हैं। इसी से कलाओं, विश्वासों, आस्थाओं, घटनाओं और त्यौहारों आदि के विभिन्न रूप भी विकसित होते हैं। इन्हीं के आधार पर साझे इतिहास का सूत्रपात होता है। इसे साझी विरासत का ढांचाविहीन, स्वत:स्फूर्त विकास कहा जा सकता है। इसके बाद आती है लोगों की व्यक्तिगत सृजनात्मकता। सृजक पहले से विद्यमान कला रूपों को नई दिशाएं देते हैं और नये-नये रूपों का सृजन भी करते हैं।

यह सबसे महत्वपूर्ण अभ्यास है, क्योंकि ये अभ्यास आगामी पांच अभ्यासों का आधार और संदर्भ बिंदु बनेगा। इसके लिए फेसिलिटेटर को समूह में बहुत अधिक कार्य करना होगा। फेसिलिटेटर को अभ्यास से जुड़े कुछ उदाहरण सोचने होंगे। अच्छा हो यदि फेसिलिटेटर अलग-अलग समूहों में एक जैसे उदाहरण न दोहराये। यदि अलग-अलग उदाहरण दिये गये तो जितने समूह होंगे, साझी विरासत के निर्माण के उतने ही रूप उभर कर आयेंगे। इसके बावजूद फेसिलिटेटर सहभागियों से किसी तरह के करिश्मों की उम्मीद न करे। फेसिलिटेटर को यह ध्यान में रखना चाहिए कि सहभागी पहली बार इस विषय पर काम कर रहे हैं इसलिए संभव नहीं वे सब कुछ अपेक्षानुसार करेंगे।

नोट 1 : मुद्दे पर और बेहतर समझ बनाने के लिए फेसिलिटेटर पठन सामग्री 1, 2 व 3 (पेज नं 22 से 35) पढ़ें।

नोट 2 : फिल्में : उर्दू है जिसका नाम, हिंदुस्तान की कहानी, Our Shared Cultural Heritage, Formation of Indian Identity

मध्यकाल से पहले की समन्वयवादी परंपराएं

भारतीय उपमहाद्वीप में समन्वयवादी और साझी विरासत से संबंधित चर्चाएं अक्सर इस्लाम के आगमन के साथ शुरू होती हैं और इन परंपराओं को मध्यकाल में शुरू हुए सूफी और भक्ति आंदोलनों की उपज माना जाता है। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ है कि एक नए किस्म की संस्कृति और सभ्यता के साथ हमारे मेल-जोल ने समन्वयवादी संभावनाओं को और बल दिया होगा। लेकिन सिर्फ इस आधार पर यह मान लेने का कोई औचित्य नहीं है कि प्राचीनकाल में ये तत्व हमारे समाज में नहीं थे। हमारे समाज में मध्यकाल से पहले भी समन्वयवादी तत्व मौजूद थे और धार्मिक एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं में वह अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होते थे।

हम सभी जानते हैं कि इस्लाम भारतीय उपमहाद्वीप में बाहर से आने वाला पहला धर्म नहीं था। यहूदी धर्म, जुरथुष्ट्रवाद और ईसाईयत पहली सहस्राब्दी में ही यहां आ चुके थे। बल्कि सच तो यह है कि ईसाई धर्म ने इंग्लैंड में पैर जमाने से भी पहले इसी महाद्वीप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई थी। इन तमाम आवाजाहियों, लेन-देन और सांस्कृतिक संपर्कों के चलते उस जमाने में भी यहां एक ऐसा माहौल बना हुआ था कि परस्पर समावेश और मेल-जोल की भावना सहज दिखायी देती थी। समन्वयवाद को बढ़ावा देने वाले परिवेश के अलावा हमारी धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं का स्वरूप भी कुछ ऐसा था कि उनमें बाहरी प्रभावों को ग्रहण करने और उनका समावेश करने की असीम क्षमता थी जिससे साझेपन की विपुल संभावनाएं अस्तित्व में आती थीं।

आस्था और अलौकिकता की परिधि के साथ मनुष्य का संबंध प्राचीन काल से ही कमोबेश दो रूपों में अभिव्यक्त होता रहा है। कहीं इस आस्था और अलौकिकता के अहसास ने एकेश्वरवाद (एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास) का रूप लिया तो कहीं उसने बहुदेववाद (एक ही ब्रह्मांडीय व्यवस्था में बहुत सारे देवी-देवताओं के अस्तित्व में विश्वास) का रूप ले लिया। कुछ विद्वानों का कहना है कि मनुष्यों के बीच धार्मिक विश्वास और पूजा-अर्चना का यह ढर्रा ही आगे चल कर मूर्तिपूजा से आस्तिकता की ओर रूपांतरित हुआ है। यानी इसे बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर संक्रमण कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों के मुताबिक इंसानी समाजों में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के बीच **'संक्रमण'** और **'पुनर्संक्रमण'** के दौर आते रहे हैं। लेकिन सभी विद्वानों के बीच इस बात पर सहमति है कि इन धाराओं को एक-दूसरे से अलग-अलग करने वाले कई तत्व रहे हैं। एक तरफ स्यामी धार्मिक परंपराएं (यहूदी, ईसाइयत, इस्लाम) हैं जो सभी एकेश्वरवादी हैं। दूसरी तरफ इंडिक या भारतीय धार्मिक परंपराएं हैं जो बहुदेववादी रही हैं। दिलचस्प बात यह है कि भारतीय धर्मों (ब्राह्मणवाद, बौद्ध, जैन) में बहुदेववादी आवरण के भीतर एकेश्वरवाद के भी शक्तिशाली तत्व रहे हैं।

ऋग्वेद दुनिया का संभवतः सबसे पुराना दस्तावेज है। इस पुस्तक में ऐसे बहुत सारे वक्तव्य और संदर्भ दिए गए हैं जो आज भी मानवाधिकारों की सोच और दर्शन को पुख्ता करने में योगदान दे सकते हैं। मसलन, ऋग्वेद के इन दो बयानों को देखिए : **'सच्चाई एक ही है। बुद्धिमान मनुष्य उसकी व्याख्या अलग-अलग करते हैं'** और **'नेक खयालों को हर तरफ से आने दो।'** ये बयान इस बात का संभवतः सबसे पुराना दार्शनिक साक्ष्य है कि सार्वभौमिक सत्य की विविध प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, उसे अलग-अलग तरह से समझा जा सकता है। दूसरे वक्तव्य में तो ज्ञान और विवेक का एक ऐसा साझा भंडार रचने की नसीहत दी गई है जिसमें हर कोई योगदान दे सकता है और जिससे सब फायदा उठा सकते हैं।

ब्राह्मणवाद, बौद्ध और जैन धर्म के साथ कई दूसरी समानांतर परंपराएं भी रही हैं। महात्मा बुद्ध (564 ईसा पूर्व - 480 ईसा पूर्व) ने वेदों और ब्राह्मण की अबेधता को खारिज किया और उनकी एक मुकम्मल आलोचना प्रस्तुत की। बुद्ध के

मुताबिक निर्वाण (जीवन और मौत के चक्र से मुक्ति) इसी जगत में हासिल किया जा सकता है और अगर सही आचरण किया जाए तो कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

इसी तरह जैन दर्शन ने भी विविध परंपराओं के समागम के बाद बहुलता और सत्य प्राप्ति की संभावनाओं को बल दिया है। जैन दर्शन की प्रसिद्ध कृति स्यादवाद में कहा गया है कि सत्य को कोई भी पूरी तरह नहीं देख सकता इसलिए हमें चाहिए कि हम सच्चाई की एक अलग समझ और अलग व्याख्याओं की संभावनाओं को स्वीकार करें।

इस तरह की बहुलतावादी भावना तमाम धार्मिक परंपराओं में रही है। यह बहुलता यथार्थ के स्तर पर भी थी और व्यवहार के स्तर पर भी। कहने का मतलब यह है कि बहुलता एक वास्तविकता भी थी और एक चाह भी थी। सामान्य धार्मिक जीवन में बहुलता को मान्यता दी जाती थी और उसका समावेश किया जाता था। साथ ही बहुलता को सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाकलाप का एक ज्यादा ऊंचा और बेहतर तरीका भी माना जाता था। आइए अब ब्राह्मणवाद की मुख्यधारा पर वापस लौटें। अब इस बात को माना जा चुका है कि ईसाई युग की शुरुआत से ही ज्यादातर शिक्षित हिंदू या तो वैष्णव थे या शैव। आधुनिक काल में हिंदू धर्म के मानकीकरण की वजह से अब यह भेद अनावश्यक सा दिखाई देने लगा है और उसका मूल आधार भी नष्ट हो गया है मगर पहली सहस्राब्दी के दौरान हिंदू धर्म के भीतर यह एक महत्वपूर्ण भेद था। यद्यपि दूसरे देवताओं को भी आदर दिया जाता था मगर उनकी हैसियत संतों और फरिश्तों वाली थी। कई बार इन दोनों पंथों का फर्क तनाव का स्रोत भी बन जाता था मगर आमतौर पर दोनों महान धाराएं सहज भाव से एक साथ आगे बढ़ती रहीं। दोनों धाराओं को मानने वाले इस बात पर सहमत थे कि अंततः दोनों सही हैं। प्राचीन भारत के प्रख्यात इतिहासकार ए.एल.बाशम कहते हैं : **'हिंदू धर्म बुनियादी तौर पर एक सहिष्णु धर्म रहा है। यह धर्म किसी को निकाल फेंकने की बजाय उसके समावेश की ज्यादा संभावना मुहैया कराता है। इसीलिए बुद्धिमान वैष्णव और शैव मतावलंबियों ने इस बात को बहुत जल्दी समझ लिया था कि वे जिन देवताओं की अर्चना करते हैं वे एक ही दैवी शक्ति के दो अलग-अलग रूप हैं। उनकी नजर में दैवी शक्ति असंख्य आयामों वाला एक हीरा है। विष्णु और शिव उसके दो बहुत बड़े और चमकीले आयाम हैं जबकि बाकी आयामों में उन सभी देवी-देवताओं को बिठाया गया था जिनकी कभी न कभी पूजा हो चुकी है।'** (बाशम, दि वंडर दैट वॉज़ इंडिया, पृष्ठ 309)।

इस तरह भारतीय धार्मिक परंपराओं ने एकेश्वरवादी और बहुदेववादी प्रभावों के प्रति खुलेपन और ग्रहणशीलता का रवैया अपनाए रखा। भगवद्गीता में एकेश्वरवाद की एक शक्तिशाली धारा दिखाई देती है। यहां कृष्ण अर्जुन को कहते हैं :

अगर कोई भक्त पूरी आस्था के साथ
किसी भी देवता की पूजा करे
और वह अपने देवता के प्रति समर्पण का भाव रखता हो
तो उसकी इच्छाएं जरूर पूरी होंगी
क्योंकि यह मैं ही हूं जो उसे देता हूं।

इस पृष्ठभूमि के साथ वैष्णव और शैव पंथों के बीच तारतम्य कायम करने की कोशिश भी की गई। छठी शताब्दी के आसपास ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति सामने आई जो बाद में हिंदुओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय हो गई। यह समन्वयवाद का एक नया तत्व था जो हरिहर देवता के नाम से जाना गया (हरि विष्णु को कहा जाता है जबकि हर शिव का नाम है)। हरिहर की उपासना एक ऐसे प्रतीक के रूप में की जाती थी जिसमें विष्णु और शिव, दोनों देवताओं के गुण समाहित थे। हरिहर की उपासना मध्य युग में शुरू हुई और देश के दक्षिणी हिस्सों में बड़े पैमाने पर प्रचलित हो गई। दक्षिण भारत के राजा-महाराजाओं ने बहुत सारे हरिहर मंदिरों को खूब संरक्षण दिया।

आंतरिक बहुलता और समन्वयवाद की इन विशिष्टताओं की वजह से ही मोटे तौर पर भारतीय धार्मिक परंपराएं बाहरी धार्मिक ताकतों के साथ सहृदयता के संबंध विकसित कर पाईं और उनके बीच संवाद की भावना बनी रही। मध्यकाल में इस भावना को हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच चले लोकप्रिय विमर्शों में देखा जा सकता है जिसके फलस्वरूप बाकी चीजों

के अलावा भक्ति और सूफी आंदोलन भी सामने आए। मगर प्राचीन काल में भी यहूदी धर्म, ईसाईयत और जुरथुष्ट्रवाद के साथ पारस्परिक संवाद की प्रक्रिया जारी थी।

तमाम ब्यौरे इस बात की तस्दीक करते हैं कि ईसाई धर्म यूरोप पहुंचने से भी पहले भारत के दक्षिणी हिस्सों में पहुंचा था। ईसा मसीह के शिष्य सेंट थॉमस खुद सीरिया से भारत आए थे। जब तेरहवीं सदी के आखिर में मार्को पोलो भारत आया था तो उसने मद्रास के पास मेलपुर के एक गिरजे में सेंट थॉमस का मकबरा भी देखा था। इस मकबरे की लोकप्रियता के आधार पर उसने इसे एक अहम तीर्थस्थान की संज्ञा दी थी। ईसाईयों ने हिंदुओं के बहुत सारे रीति-रिवाज भी अपनाए हैं। अपने से पहले आए बौद्ध और जैन मतावलंबियों की तरह मालाबार ईसाई भी एक गैर-सनातनी हिंदू पंथ बनने की प्रक्रिया से गुजर रहे थे।

ईसाईयत की तरह यहूदी (जूडा धर्म के अनुयायी, जो मूलतः यहूदा नामक एक मिथकीय प्रांत से आए थे, जिसके आधार पर भारतीय भाषाओं में उनका नाम यहूदी पड़ गया) भी आकर मालाबार में बस गए। भारतीय स्रोतों में दसवीं शताब्दी के एक चार्टर का उल्लेख आता है जिसके मुताबिक राजा भास्कर ने जोसेफ नाम के एक यहूदी को जमीन और कई दूसरी सुविधाएं दान में दी थीं। इसके बाद यहां यहूदी समुदाय के कई लोग आकर बस गए। मगर यहूदी परंपराओं का आशय आज के कोचीन शहर में पहली ईस्वी में आकर बसी एक विशाल यहूदी आबादी से रहा है। बहरहाल, हमारे देश में एक छोटा सा यहूदी समुदाय एक (संभवतः दो) सहस्राब्दी से भी ज्यादा समय से मौजूद रहा है। इस समुदाय की एक धारा तो स्थानीय मलयाली बाशिंदों के साथ इतनी घुल-मिल चुकी है कि वह अब अलग दिखाई ही नहीं देती। दूसरी धारा ने अपनी शुद्धता कायम रखी है और यह धारा आज भी स्यामी सिद्धांतों पर खड़ी दिखाई देती है। इसी तरह जुरथुष्ट्र (जिन्हें अब उनकी फारसी मूलभूमि के आधार पर पारसी कहा जाता है) व्यापारी भी बहुत पहले ही भारत के पश्चिमी तट पर आकर बस चुके थे। असल में, फारस पर अरबों की फतह के बाद बहुत सारे शरणार्थी भारत आए थे जो यहीं की मिट्टी के होकर रह गए। बाकी समूहों की तरह उन्होंने भी भारतीय संस्कृति को समृद्धि दी है और इस संस्कृति की वजह से खुद भी समृद्ध होते गए। हमारे यहां इस आदान-प्रदान का सबसे महत्वपूर्ण तरीका विलय की बजाय परस्पर संवाद का रहा है।

लब्बोलुआब ये कि यह उपमहाद्वीप अपने देसी देवी-देवताओं और पंथों के प्रति गहरी आस्था और निष्ठा के बावजूद बाहर से आने वाली तमाम धाराओं का स्वागत करता रहा है। यहां किसी गैर-भारतीय पंथ या धर्म के साथ धर्मयुद्ध की तो बात ही छोड़िए, किसी जोर-जबर्दस्ती का भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता। इन पंथों और धर्मों के अनुयायी शांतिपूर्वक अपने पंथों की उपासना करते रहे और उन्होंने पश्चिमी तटों के सामान्य धार्मिक जीवन में अपने-अपने हिस्से का छोटा मगर उल्लेखनीय योगदान दिया है। व्यापक हिंदू समाज अजनबी समाजों की आस्थाओं और परंपराओं से परिचित रहा है मगर इस समाज ने कभी भी उनके प्रति दुश्मनी का रवैया नहीं अपनाया। परस्पर स्वीकार और सहअस्तित्व की यह क्षमता ही भारतीय धार्मिक परंपराओं की खासियत और लचीलेपन का सबसे बड़ा स्रोत और अवदान रही है।

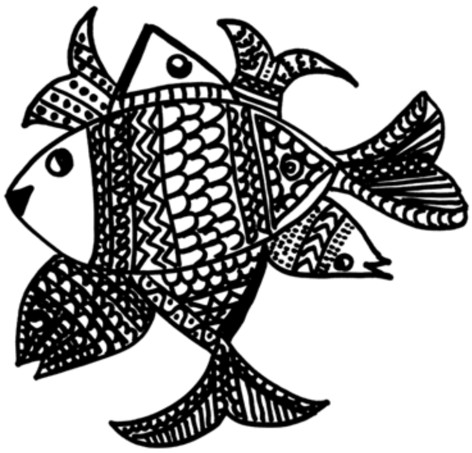

पठन सामग्री-2

मध्यकालीन दक्षिण एशिया की साझी परंपराएं

जब तुर्कों और मुगलों ने भारत (इसे पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के रूप में पढ़ा जाए तो बेहतर होगा) को अपना घर बना लिया तो उन्होंने यहां ऐसी बहुत सारी नई चीजें भी फैला दीं जो उन्होंने फारसी, अरबी और तुर्की परंपराओं से सीखी थीं। आक्रमणकारी विजेताओं के रूप में आने वाले शासक यहां के देशी राजाओं और धार्मिक तौर-तरीकों से शुरुआत में एक तरह की दुश्मनी रखते थे। कई जगह उन्होंने मंदिरों को भी तोड़ा। मगर, एक बार पैर जमा लेने के बाद उन्होंने देशी राजे-रजवाड़ों और महंत-महात्माओं के साथ संबंध विकसित करने शुरू कर दिए। कुछ लोगों का मानना है कि सल्तनत या मुगल काल के राजाओं ने सिर्फ इस्लाम को बढ़ावा दिया और हिंदुओं को प्रताड़ित किया। यह बात कुछ शासकों के बारे में सही हो सकती है लेकिन अधिकांश मामलों में ऐसा नहीं रहा है। ये राजा यहां शासन करने आए थे। अगर कुछ इस्लामिक कानून उन्हें ज्यादा कर वसूल करने से या ज्यादा ताकत हथियाने से रोकते थे तो उन्होंने फौरन ऐसे कानूनों को भी रद्द करने में कोताही नहीं की। इतनी ही महत्वपूर्ण बात यह है कि उन राजाओं को जनता से राजस्व इकट्ठा करने और राजकाज चलाने के लिए हिंदू राजे-रजवाड़ों, व्यापारियों और जमींदारों की मदद भी चाहिए थी। अगर उन्हें टिकना था तो इन सभी समूहों से अच्छे संबंध विकसित करने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं था। दूसरी तरफ हिंदू जमींदारों ने भी तुर्कों और मुगलों के शासन में अहम पद संभाले क्योंकि इसमें उन्हें भी अपना फायदा दिखाई देता था। तुर्क और मुगल इसलिए सत्ता कायम करने में कामयाब रहे क्योंकि उन्हें यहां के हिंदू जमींदारों से समर्थन और मदद मिल रही थी। इससे जमींदारों की ताकत में भी इजाफा हुआ क्योंकि उन्हें तुर्कों की शक्तिशाली सेना का समर्थन हासिल था। धीरे-धीरे यही हिंदू जमींदार हिंदू परंपराओं के संरक्षक बन गए। मुगल राजाओं से अच्छे ताल्लुकात रखने वाले बहुत से राजपूत राजाओं को और भी ज्यादा ताकत मिली क्योंकि उन्हें मुगल नौकरशाही में बड़े-बड़े पद दिए गए थे। उन्होंने बहुत सारे विशाल मंदिर बनवाए। मिसाल के तौर पर, जयपुर के कछवाहा राजाओं ने आमेर में बहुत सारे मंदिर बनवाए।

छोटी-छोटी रियासतों के बहुत सारे मुस्लिम राजाओं ने स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों को संरक्षण दिया। जैसे, रामायण और गीता का पहली बार बांग्ला भाषा में अनुवाद एक मुस्लिम शासक की देखरेख में ही करवाया गया था।

साझी संस्कृति का निर्माण

शासक शासन कर रहे थे। लेकिन शासकों के अलावा और भी बहुत तरह के लोग भारत आते रहते थे। इनमें बहुत सारे साधु, व्यापारी, विद्वान और सिपाही होते थे।

इस्लाम की दो शाखाएं रही हैं। एक शाखा कुरान और हदीस के कड़े सिद्धांतों पर आधारित है और दूसरी संतों, सूफियों और रहस्यवादियों की शाखा है। यहां आने वाले लोगों के लिए दूसरी शाखा ने पथप्रदर्शक का काम किया है। यहां बस जाने के बाद उनके सामने रोजी-रोटी का सवाल आता था। उन्हें भोजन और कपड़े की तलाश करनी पड़ती थी। उन्हें रहने के लिए घरों की दरकार थी। घर चलाने के लिए उन्हें शादी-ब्याह करने थे। उन्हें लोगों से ताल्लुक कायम करने थे। इन सारी चीजों ने मिलकर एक नई परंपरा को जन्म दिया। गाज़ीपुर या मुज़ज़रफ़रपुर जैसे नाम उस युग की इसी भावना को इंगित करते हैं। जहां एक तरफ गाज़ी और मुज़्ज़फ़र जैसे शब्द अरबी मूल के रहे हैं वहीं दूसरी तरफ पुर संस्कृत का शब्द है। नई आहार शैलियां, नई इमारतें, नई भाषाएं और नई धार्मिक परंपराएं सामने आईं। दरअसल ज्यादातर शासक इन बदलावों को समझने की स्थिति में नहीं थे। वे इन बदलावों को गहरे संदेह की नजर से देखते थे। उन्होंने कई बार ईशनिंदा के आरोप में मुसलमान या हिंदू धर्मोपदेशकों को दंडित भी किया। वे भारतीय मुसलमानों को नीची नजर से देखते थे। लेकिन आम लोगों की

जरूरतों और दृष्टि से बनी लोकप्रिय संस्कृति को दबाना शासकों के वश की बात नहीं थी। इन बदलावों में से कुछ का हम नीचे जिक्र कर रहे हैं।

भोजन और पहनावा

हिंदुस्तानियों के भोजन में रोटी की अहमियत किसी से छिपी नहीं है। लेकिन यह तुर्की भाषा का शब्द है। इसका मतलब है कि भारतीय भोजन के सबसे लोकप्रिय हिस्से की जड़ें तुर्की परंपराओं में रही हैं। उत्तर भारत में जलेबी, कचौरी और आलू की सब्जी नाश्ते का एक बुनियादी हिस्सा है। जलेबी भी तुर्कों के साथ यहां आई। कचौरी प्राचीन भारतीयों की देन थी जबकि आलू यूरोपियों के साथ अमेरिका से यहां आया था। हलवा, समोसे और एक प्याली चाय के बिना हमारी शाम की बैठकें पूरी नहीं होतीं। मजे की बात यह है कि हलवा और समोसा भी तुर्कों से हमें मिले हैं। चाय की खोज चीनियों ने की थी। बाद में यही चाय अंग्रेजों के साथ भारत आ पहुंची। भारत में परांठे का आविष्कार भी तुर्कों ने किया। बिरयानी, कबाब और न जाने कितने मांसाहारी खाद्य पदार्थ भी इन्हीं बाहरी संस्कृतियों से यहां आए हैं।

आज जब कोई खूबसूरत लड़की सलवार शमीज़ और दुपट्टा पहने निकलती है तो दरअसल वह दो परंपराओं के मेल का प्रतिनिधित्व करती है। सलवार और शमीज़ तुर्क-फारसी परंपरा से निकले हैं जबकि दुपट्टा प्राचीन भारतीय परंपरा की देन रहा है।

लोकप्रिय धार्मिक परंपराएं

प्रत्येक इंसानी समुदाय में बहुत सारे ऐसे लोग होते हैं जो 'जीवन क्या है', 'मौत के बाद क्या होता है?', 'अच्छा क्या है और बुरा क्या है?' जैसे बड़े सवाल खड़े करते रहे हैं। इस तरह के आध्यात्मिक रुझान वाले लोग इन सवालों पर अपने-अपने जवाब भी दे जाते हैं। आमतौर पर ऐसे लोगों को मानने वालों का एक छोटा-मोटा समूह रहता है। लेकिन किसी समुदाय के इतिहास में कुछ ऐसे चरण आते हैं जब ये सवाल असंख्य लोगों के लिए बुनियादी सवाल बन जाते हैं। ऐसे ही मौकों पर नये धार्मिक आंदोलन सामने आते हैं। उत्तर भारतीय ब्राह्मणवादी परंपरा पहली सहस्राब्दी के बाद चतुर्वर्ण जातीय संरचना पर आधारित रही है। दसवीं शताब्दी के बाद विशाल भूखंडों में पहली बार खेती-बाड़ी शुरू की गई थी। इन जमीनों को प्रवासी जाट समुदायों ने हरा-भरा बनाया था। बहुत सारे इलाकों में सदियों से जंगलों में रहते आए लोग भी एक जगह टिक कर खेती-बाड़ी करने लगे थे। इन समुदायों में समानता की शक्तिशाली जनजातीय परंपराएं मौजूद थीं। इन नए उभरते किसान समूहों के साथ ही नई धार्मिक परंपराएं भी सामने आ रही थी। समानता का संदेश लेकर इसी समय इस्लाम भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था। देशी परंपराओं और इस्लाम के बीच इस आपसी लेन-देन ने ही इस दौरान धर्म के क्षेत्र में बेजोड़ प्रयोगों को जन्म दिया। यदि हम नानक, कबीर, रैदास, दादू आदि संतों के उपदेशों का अध्ययन करें तो उन सब में एक चीज समान दिखाई देती है। उन सभी ने मनुष्यों की समानता पर जोर दिया है। उनके उपदेशों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे इस्लामिक परंपराओं से वाकिफ थे। सिख धर्म इनमें से सबसे ज्यादा स्थापित और सुज्ञात रहा है। सिखों की पवित्र पुस्तक गुरुग्रंथ साहिब में बाबा फरीद जैसे विख्यात मुस्लिम संतों के दोहों को देखा जा सकता है। कबीर जैसे संतों का हिंदू और मुसलमान, दोनों ही समुदाय के लोग समान भाव से आदर करते हैं। समानता पर यह जोर इस्लामिक परंपरा की देन दिखाई देता है। दूसरी तरफ इन संतों की वाणी में ईश्वर और भक्ति की अवधारणा छठी-सातवीं सदी के तमिलभाषी इलाकों की परंपराओं से उपजी दिखाई देती है। इसका मतलब है कि ये साधु संत दो पूर्ववर्ती परंपराओं के अनूठे मेल को आगे बढ़ा रहे थे। नए किसानों व मजबूत जनजातीय परंपराओं को इन संतों के उपदेश आकर्षक दिखाई देते थे इसलिए उन्होंने इन गुरुओं और संतों को फौरन अपना लिया। साझा संस्कृति की यही विरासत है जिसे सत्यनारायण कथा जैसी लोकप्रिय प्रार्थनाओं में देखा जा सकता है। यह कथा जितनी नारायण की कहानी से प्रेरित है उतनी ही पूर्वी बंगाल के सतिया पीर की कहानी से भी प्रभावित रही है।

यहां आने वाले मुसलमान संत भी भारत की देशी परंपराओं को समझने में गहरी दिलचस्पी रखते थे। मोइनुद्दीन चिश्ती या

निजामुद्दीन औलिया इस्लाम और देशी धार्मिक परंपराओं के मेल से उपजे इस्लामिक संस्करण का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत के अलावा और कहीं भी किसी संत की समाधि पर पूजा-अर्चना की परंपरा इस्लाम के लिए अनजानी रही है। हिंदू पहले से ही संतों को दफनाने और उस स्थान पर मंदिर बनाने की परंपरा का पालन करते आ रहे थे। गैर-भारतीय इस्लाम के लिए अल्लाह की प्रशंसा में गीत-गाना एक अजूबी चीज रही है। हिंदुओं के पास ईश-वंदना के लिए गाने-बजाने की एक लंबी परंपरा रही है। कव्वाली गायन सूफी पूजा स्थलों से ही उपजी है। ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की अजमेर स्थित समाधि पर उनकी पुण्यतिथि (ऊर्स) के समय कव्वालियों का बहुत बड़ा आयोजन होता है। दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह भी एक ऐसा ही बड़ा केंद्र है। कव्वालियां आमतौर पर उर्दू में गायी जाती हैं लेकिन उनके शब्द फारसी काव्य शास्त्र से ही निकले होते हैं।

कश्मीर जैसे स्थानों पर मुस्लिम संतों की सबसे शक्तिशाली परंपरा को ऋषि शृंखला के नाम से जाना जाता है। ऋषि संस्कृत का शब्द है। जब लोग इन संतों या ऋषियों के पास जाते थे तो इस भेंट से उन्हें एक आध्यात्मिक परिपूर्णता का आभास मिलता था। उनके लिए यह बात मायने नहीं रखती थी कि वह साधु हिंदू है या मुसलमान। इसीलिए गुरु नानक या निजामुद्दीन औलिया के अनुयायियों में तमाम धर्मों और समुदायों के लोग होते थे।

हसन और हुसैन की कुर्बानी पर निकलने वाले ताज़िये जुलूस भारत के बाहर और कहीं दिखाई नहीं देते। माना जाता है कि ये जुलूस रथयात्रा त्यौहारों की भारतीय परंपरा से उपजे हैं। मोहर्रम के ताज़िये और दिल्ली में रामलीला के लिए राम और रावण के पुतले, सभी मुसलमान कारीगर बनाते हैं। तेरूकुट्ठु और कथक्कली जैसी तमिलनाडु और केरल की लोक एवं परंपरागत कलाओं में मुस्लिम संगीतकारों को उनके धर्म के आधार पर पहचानना मुश्किल हो जाता है। यही बात हरियाणा, राजस्थान व मध्य प्रदेश में स्वांग, ख्याल और नाच परंपराओं पर भी खरी उतरती है। इन सभी में मुसलमान गायकों, संगीतकारों, नर्तकों और अभिनेताओं की भरमार रहती है। लोक संगीत के क्षेत्र में राजस्थान की लंगा और मंगनीयार परंपरा का कोई सानी नहीं। लेकिन इन कलाकारों के रूप रंग, पहनावे या भाषा के आधार पर राजस्थान के बाकी हिंदू जनजातीय कलाकारों से उन्हें अलग कर पाना मुश्किल होता है।

भारतीय संगीत की शास्त्रीय परंपरा

भारतीय संगीत की शास्त्रीय परंपरा दुनिया को भारतीय सभ्यता द्वारा दिया गया सबसे रचनात्मक उपहार माना जा सकता है। यही परंपरा है जिसमें हमें हिंदू और मुस्लिम पहचानों का सबसे खूबसूरत मेल दिखाई देता है।

राग

सितार और तबले का आविष्कार अमीर खुसरो ने किया था।

सबसे लोकप्रिय शास्त्रीय गायन संगीत को खयाल कहा जाता है। गायन की यह विधा सोलहवीं सदी में अस्तित्व में आई थी। इससे पहले की शास्त्रीय गायन शैली को ध्रुपद शैली कहा जाता था। ध्रुपद परंपरा मुख्य रूप से ईश्वर की स्तुति के लिए इस्तेमाल होती थी। कुछ परिवारों ने गायन की इस परंपरा को आज भी जिंदा रखा हुआ है। अमीनुद्दीन डागर और मोइनुद्दीन डागर इस शैली के सबसे विख्यात गायक रहे हैं। शिव की उपासना में गाए गए उनके गीत सुनने वालों को अभिभूत कर देते हैं।

खयाल गायन परंपरा ध्रुपद और फारसी परंपरा के परस्पर मेल से उपजी है। फिलहाल खयाल गायन में कई घराने स्थापित हैं जिनकी शैलियां एक दूसरे से कुछ भिन्न मानी जाती हैं। ये घराने गुरु-शिष्य परंपरा की तर्ज पर काम करते हैं। इसीलिए ग्वालियर घराने के दो सबसे जाने-माने गायकों में एक पंडित कृष्णराव शंकर और दूसरे मुश्ताक हुसैन खान रहे हैं। जयपुर घराने में पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर और रजब अली खान का कोई सानी नहीं रहा है।

शास्त्रीय संगीत शैलियों से उपजा सुगम शास्त्रीय संगीत भी इसी तरह के घालमेल को दर्शाता है। रसूलनबाई की कजरी, चैती और होरी (होली के गीत) का जोड़ ढूंढना मुश्किल है। जब भजनों की चर्चा आती है तो बड़े गुलाम अली खान द्वारा गाया गया 'हरिओम तत्सत' गीत अपनी अलग पहचान रखता है।

वाद्य संगीत के क्षेत्र में अलाउद्दीन खान का मेहर घराना सबसे बेजोड़ है। अलाउद्दीन खान को रामपुर के सेनिया घराने के उस्तादों से संगीत की दीक्षा मिली थी। सेनिया घराने का दावा है कि वे मियां तानसेन के वंशज हैं। बाद में अलाउद्दीन खान ने सितार वादन में पंडित रविशंकर को दीक्षा दी। जब आप रविशंकर का सितार या अली अकबर खान का सरोद वादन या हरिप्रसाद चौरसिया का बांसुरी वादन सुनते हैं तो वास्तव में सेनिया घराने की धुनों को ही सुन रहे होते हैं। हिंदू और मुसलमान गायक तकरीबन सभी घरानों में दिखाई देते हैं। इनके गीत आमतौर पर माँ सरस्वती की वंदना से शुरू होते हैं। अलाउद्दीन खान कृष्ण के भक्त थे। और बिस्मिलाह खान को भला कौन भूल सकता है। उनकी बजाई शहनाई की धुनें न जाने कितने हिंदू शादी-ब्याहों में गूंजती हैं। (विस्तृत जानकारी के लिए पृष्ठ 44-45 पर पठन सामग्री 3 व 4 पर देखें)

मंचन परंपराएं

कथक

यह उत्तरी भारत की सबसे लोकप्रिय नृत्य विधा है। कथक शब्द 'कथा' यानी कहानी शब्द से निकला है। यह मुख्य रूप से एकल प्रदर्शन कला रही है। इस नृत्य शैली की एक अनूठी खासियत यह है कि अपने वाचन और विवरणात्मक टिप्पणियों के जरिए हर कलाकार दर्शकों के साथ एक आपसी संबंध कायम कर लेता है। न जाने कितनी सदियों से सदा सफर में रहने वाले भाट गांव-देहात के लोगों को मिथकीय कहानियों और नायकों के बारे में सुनाते चले आ रहे हैं। उनकी कथाएं अकसर महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों से ली गई होती हैं। इसके अलावा वे पुराणों की कहानियां भी सुनाते हैं। पुराणों में मुख्य रूप से भगवान कृष्ण और वृंदावन में उनके कारनामों की कहानियां उन्हें पसंद आती हैं।

मध्यकाल में मुगलों के साथ यह नृत्य विधा दरबारों में भी लोकप्रिय हो उठी। चित्ताकर्षक वेशभूषा और आभूषणों से सजे नर्तक-नर्तकियां अपनी काव्यात्मक विवरणों के साथ राजाओं और नवाबों का मनोरंजन करते थे और पूरे परिवेश को सौंदर्य के सागर में सराबोर कर देते थे। इस प्रकार, कथक नृत्य हिंदू और मुस्लिम, दोनों संस्कृतियों के सौंदर्यात्मक आदर्शों के मिलन से बना है।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में कथक वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार में अपने वर्तमान रूप तक पहुंच चुका था। एक तरफ तो कृष्ण लीला के समावेश से इस नृत्य के उपासनात्मक आदर्श एक नए शिखर तक जा पहुंचे जिन्हें ठुमरी के साथ मंचित किया जाता था। दूसरी तरफ दरबार की अपनी साज-सज्जा और ऐश्वर्य के दम पर प्रस्तुति में भी नया सौंदर्य और नयी जान आ गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि कथक हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का सूक्ष्म मिश्रण बन गया। उसमें मूल हिंदू महाकाव्यों के साथ-साथ फारसी उर्दू काव्यों के विषयों का भी मंचन किया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय रंगमंच परंपराए

आधुनिक काल में रंगमंच को पुनर्जीवित करने का श्रेय आगा हसन अमानत को जाता है। 1856 में उन्होंने ही इंद्रसभा नाटक लिखा था और उसका मंचन किया। कई सदियों बाद इसी नाटक के साथ भारत में रंगमंच के बीज पड़े। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार में मंचित होने वाला यह पहला नाटक था। उल्लेखनीय है कि वाजिद अली शाह खुद कवि, संगीतकार, कथक शैली के रचनाकार और रासलीला को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाने वाले एक महान कलाप्रेमी थे। अमानत का संगीतीय नाटक काव्यात्मक शैली में लिखा गया था और यह शैली वाजिद अली शाह के दरबार में होने वाली रास लीला के मंचन से ही प्रेरित थी।

पारसी रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच में पारसी रंगमंच आंदोलन का अपना एक वजूद रहा है। 1850 के दशक में शुरू हुए इस आंदोलन में भारतीय किस्से-कहानियों की रंगमंचीय प्रस्तुति के एक से एक अभिनव प्रयोग किए गए हैं। यह परंपरा 1930 के दशक तक फलती-फूलती रही और इसके बाद धीरे-धीरे भारतीय सिनेमा में विलीन हो गई। पारसी थियेटर के ही साये में बहुत सारे युवा मुस्लिम पटकथा लेखक सामने आए थे। रौनक, बेताब, रुसवा, हफीज़ अब्दुला तालिब, हुबाब, जरीफ, आराम, खुर्शीद और बहुत सारे दूसरे पटकथा लेखक एक से एक कामयाब नाटक रच रहे थे जो प्राय: पुराणों के किस्से-कहानियों और रामायण व महाभारत पर आधारित होते थे। आगा हश्र कश्मीरी पारसी थियेटर के सबसे विख्यात पटकथा लेखकों में रहे हैं। उनकी कृतियों में फिरदौसी के पारसी महाकाव्य शाहनामा पर आधारित रुस्तमो सोहराब से लेकर सूरदास के जीवन को प्रतिबिंबित करने वाले बिल्व मंगल तक एक से एक बेजोड़ नाटक शामिल थे। ये पटकथा लेखक फ्रांसीसी ओपेरा से काफी प्रभावित थे। लेकिन उनके पास नाट्य शास्त्र की भी प्रतियां मौजूद थी।

जब भारत में आवाज वाली फिल्में बनने लगी तो ज्यादातर पारसी अभिनेता और अभिनेत्रियां फिल्मों में सक्रिय हो गए। भारतीय सिनेमा आंदोलन ने रामायण और महाभारत को केंद्र में रखते हुए विभिन्न भाषाओं में बहुत सारी फिल्में बनाईं और पारसी रंगमंच के बहुत सारे तत्वों का खूबसूरती से समावेश किया। प्राचीन काल में देवी-देवता, नायक-नायिकाएं किस तरह के कपड़े पहनते थे, इस बारे में हमारी सोच पूरी तरह इसी रंगमंच और सिनेमा आंदोलन से जन्मी है। यही परंपरा महाभारत और रामायण जैसे टेलीविजन सीरियलों में भी दिखायी देती है।

हबीब तनवीर जैसे पटकथा लेखक भी मंचन कलाओं की इसी परंपरा की नुमाइंदगी करते हैं। उनके नाटकों में कालिदास द्वारा रचित शकुंतला, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस और भवभूति के उत्तर रामचरित जैसी संस्कृत महाकृतियां शामिल हैं। इसके अलावा उन्होंने आगरा बाजार और चरणदास चोर जैसे बेहद सफल नाटक भी लिखे हैं।

भाषा

विभिन्न स्रोतों से आयी चीजों का परस्पर मेल भारतीय परंपरा की विशेषता रही है। विविध संस्कृतियों के इस समागम का सबसे जाहिर उदाहरण भाषाओं के क्षेत्र में दिखाई देता है। उदाहरण के लिए इस वाक्य को ही लीजिए—'मेरे चाचा रिटर्न कर रहे हैं'। इस वाक्य में संस्कृत (मेरे), तुर्की (चाचा) और अंग्रेजी (रिटर्न), तीनों भाषाओं के शब्द हैं। बहुत सारी भारतीय भाषाओं की वाक्य संरचना ऐसी है कि उसमें विदेशी शब्दों को आसानी से समाहित किया जा सकता है। उत्तर भारतीय भाषाएं पिछले सात-आठ सौ सालों के विकास क्रम की उपज हैं। आज हम जिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं उनमें से बहुत सारे प्राचीन काल से भी प्रचलन में थे। मसलन, हमारी सबसे पवित्र नदी गंगा का नाम संस्कृत भाषा से नहीं आया है। यह लुप्त हो चुकी मुंदरी भाषा का शब्द था। यही स्थिति 'चावल' शब्द के साथ है। इन भाषाओं के विकास का सबसे महत्वपूर्ण चरण तेरहवीं शताब्दी के बाद आया। यह वही समय था जब तुर्क शासक उत्तर भारत की ओर बढ़े आ रहे थे। इन शासकों ने फारसी और अरबी भाषाओं को खूब बढ़ावा दिया। क्योंकि पारसी भाषा शासन की भाषा थी इसलिए यहां के लोगों ने भी जल्दी ही उसे इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। हैरत की बात नहीं है कि औरंगजेब के खिलाफ लड़ने वाले मराठों ने भी फारसी को ही शासन की भाषा बनाए रखा। इन्हीं भाषाओं के आपसी लेन-देन से हिंदी का जन्म हुआ। इस भाषा के सौंदर्य पर गर्व करने वाले अमीर खुसरो पहले नामचीन व्यक्ति थे। आज जो हिंदी हम बोलते हैं उसमें संस्कृत भाषा जैसी संरचना तो है लेकिन इसके शब्द भंडार में ब्रज, अवधी, भोजपुरी, अरबी और फारसी, सब भाषाओं के शब्दों का बेजोड़ मिश्रण मौजूद है। आइए अब अरबी से निकले कुछ शब्दों पर ध्यान दें।

अरबी से निकले शब्द

जब हम आदमी या इंसान शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ये कहां से आए हैं। ये अरबी भाषा

के शब्द हैं। और इन मनुष्यों को अपनी अक्ल में इजाफे के लिए किताब पढ़नी चाहिए और कलम से लिखना चाहिए। इस तरह के मनुष्यों को इंसाफ के लिए लड़ना चाहिए और जालिमों के जुर्म को कभी बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। हमें मोहब्बत को प्रोत्साहित करना चाहिए और अपना वादा कभी नहीं तोड़ना चाहिए। शराफत हमेशा जीतती है और गद्दारी हमेशा हारती है— सारी हिंदी फिल्मों का किस्सा बस इतना ही है।

वक्त और लहर इस दुनिया में किसी का इंतजार नहीं करते। मौत सबको आनी है और इसके लिए गम का कोई मतलब नहीं। दिल्ली की गर्मियों में साफ पानी के शर्बत के एक गिलास से बढ़कर कोई चीज नहीं। नहीं तो इंसान को दवा लेनी पड़ती है। इस मुल्क के अमीर गरीबों की फिक्र नहीं करते। हमारी सेहत के लिए सब्जी अच्छी चीज है। और खुले मैदान में घूमना भी सेहत के लिए अच्छा होता है।

फारसी से निकले शब्द

भगतसिंह की सरगर्मियों के बाद करोड़ों हिंदुस्तानी जब-तब इंकलाब जिंदाबाद का नारा लगाते रहे हैं। अब इस बात पर कोई ध्यान भी नहीं देता कि ये दोनों शब्द अरबी और फारसी भाषा से आए हैं। क्रांतिकारी एक ऐसे दिन का सपना देखते हैं जब ज़मीन उसी तरह हम सबकी होगी जिस तरह आसमान पर हम सबका हक है।

अपने घरों में हम अखबार पढ़ते हैं लेकिन हर साल कीमतें बढ़ती जा रही हैं। इसलिए गरीब आदमी की आमदनी ही उनका खर्चा है। वे कम से कम खाने लायक चीजें खरीद पाते हैं और इस वजह से बीमार पड़ रहे हैं। हमें अपनी सेहत का खयाल रखना चाहिए। गरीब लोग मुकम्मल कपड़े (लिबास, जामा, पाजामा, सलवार, शमीज़) भी नहीं खरीद पाते। झुग्गियों में खुले मैदान नहीं होते और साफ हवा नहीं मिलने से यहां पर बीमारियों का घर बन जाता है। बच्चे तो बहुत जल्दी-जल्दी बीमार पड़ने लगते हैं। इसीलिए उनके हालात खराब होते जा रहे हैं। लेकिन हमारे शासकों के पास गरीबों के दर्द को महसूस करने के लिए दिल ही नहीं है। अगर हम इकट्ठा हो जाएं और जुल्म की जंजीरों को तोड़ने के लिए अपनी ताकत लगा दें तो जमाना बदल जाएगा। हमें एक ऐसे समाज की दरकार है जो दोस्ती की बुनियाद पर खड़ा होगा। जहां चाह वहां राह। हमें ये सवाल अपने हाकिमों से भी पूछने चाहिए।

सिर्फ दौलत, नौकरी और किराया ही जिंदगी नहीं होते। अगर कोई सुबह-शाम इन्हीं सवालों पर सोचता रहे तो जिंदगी अपना जादू खो देगी। हमें अपने मुल्क के बारे में भी सोचना चाहिए।

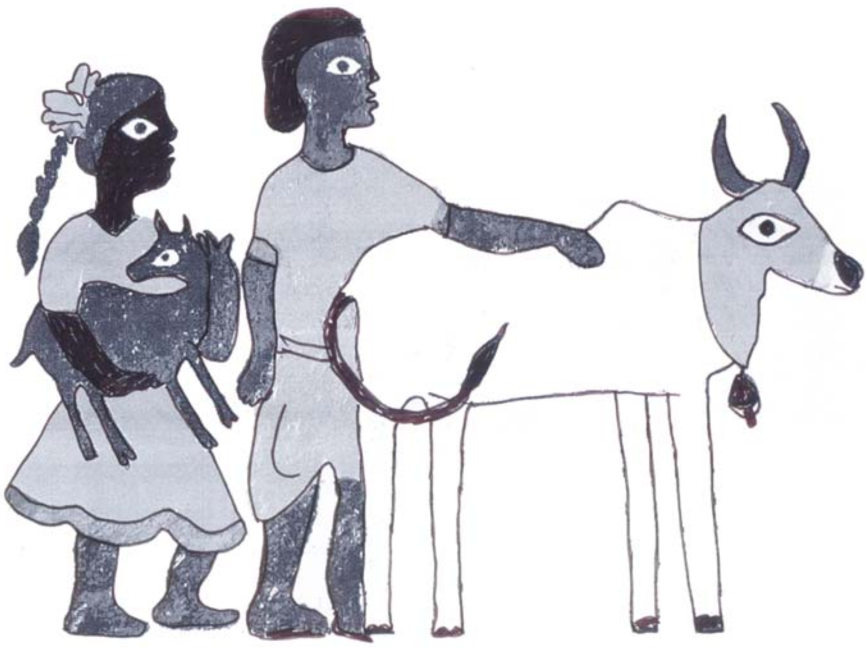

भारत की भाषाएं : साझेपन और बहुलता का संगम

प्रिय पाठक,
जहां भी आपको 'लिंग्विस्ट सर्वे ऑफ इंडिया' या भारत की भाषा जैसे शब्द मिलें, तो उनका आशय 1947 से पहले की परिस्थितियों से ही माना जाए। इन भाषायी सर्वेक्षणों और भाषाओं में भारतीय उपमहाद्वीप के सभी इलाकों की भाषाएं शामिल हैं। हमारा यह साझा इतिहास किसी एक राष्ट्र का इतिहास नहीं है।

भारत का भाषायी परिदृश्य कई लिहाज से अनूठा है। भाषायी लिहाज से भारत को सबसे बहुलवादी और विविधतापूर्ण समाजों में रखा जा सकता है। उसकी यह बहुलता विभिन्न भाषाओं के बीच गहरे आपसी संबंधों पर आधारित है। आइए सबसे पहले इस बारे में बात करें कि इस बहुलता से हमारा आशय क्या है।

बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा लिखे गए विशालकाय लिंग्विस्ट सर्वे ऑफ़ इंडिया (19 मोटे-मोटे खंड) के मुताबिक भारत में कम से कम 179 भाषाएं हैं और उनकी 544 बोलियां हैं। लगभग उसी समय, 1921 की जनगणना में भारतीय भाषाओं की संख्या 222 बताई गई थी। 1961 की जनगणना में 1652 मातृभाषाएं दर्ज की गईं जिन्हें मोटे तौर पर 200 भाषाओं में वर्गीकृत किया गया। हाल ही में 1991 की जनगणना में भारतीय भाषाओं की संख्या 111 और मातृभाषाओं की संख्या 216 बताई गई है। दर्ज की गई भाषाओं की संख्या में भारी उतार-चढ़ाव पिछले आठ दशकों के दौरान भाषायी परिदृश्य में आए किसी उल्लेखनीय बदलाव का नहीं बल्कि वर्गीकरण के अलग-अलग तरीकों का नतीजा है। यह भ्रम भी भारतीय भाषाओं के जटिल लैंडस्केप के बारे में बहुत कुछ कह जाता है। इस जटिलता ने भारतीय भाषाओं के सटीक एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण और गणना की हर कोशिश को चुनौती दी है। इसी तरह भाषा, बोली और मातृभाषा जैसे शब्दों का प्रयोग भी भारतीय भाषायी परिदृश्य की जटिलता को समझने की विफल कोशिशों का साक्षी है।

भाषाविदों की राय में भारत की भाषायी विविधता के बारे में गौर करने वाली महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां स्वरविज्ञान (फ़ोनेटिक्स) और आकृतिविज्ञान (मोर्फ़ोलॉजी) के स्तर पर सारी भाषाओं में एक बेजोड़ समरूपता दिखाई देती है। **यह एकता या समरूपता सदियों के विकासक्रम में विभिन्न प्रमुख भाषाओं के बीच चले परस्पर लेन-देन का नतीजा है।** वैसे भी सारी भारतीय भाषाओं की जड़ें केवल चार भाषाओं या चार भाषायी परिवारों में ढूंढी जा सकती हैं। ये भाषा परिवार हैं—भारत-आर्यन, द्रविड़ियन, चीनी-तिब्बती और ऑस्ट्रिक। यह बात पूरे यकीन के साथ कही जा सकती है कि सभी भारतीय भाषाएं इन्हीं चार भाषा परिवारों से पैदा हुई हैं।

माना जाता है कि भारत की भाषायी बहुलता प्राचीन काल से अब तक समय-समय पर भारत में आए बाहरी समुदायों के असर का परिणाम है। प्रख्यात भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी ने समुदायों की आवाजाही से भाषायी फलक पर पड़े प्रभावों पर विचार किया है। 1943 में ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़े गए अपने एक पर्चे में उन्होंने भारत को भाषाओं और 'विभिन्न समाजों के लिए एक विराट निकासी घर' की संज्ञा दी थी। संक्षेप में, विभिन्न भाषायी समुदायों के उपमहाद्वीप में आने का ब्यौरा इस प्रकार है : भारत के सबसे पुराने बाशिंदे अफ्रीका से आए नीग्रोइड या नेग्रीटो नस्ल के लोग थे। बाद में यह नस्ल खत्म हो गई और उसके अवशेष या निशानियां भी नहीं बचीं। अब यह समुदाय और उसकी भाषा केवल अंडमान द्वीप समूह में ही बची है। इनके बाद प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉइड्स नस्ल के लोग भारत आए। संभवत: पश्चिम से आए ये लोग ऐसी बोलियां बोलते थे जो ऑस्ट्रिक ध्वनि परिवार की भाषाओं से जन्मी थीं। ऑस्ट्रिक मूल के लोगों के बाद लगभग 3,500 ई.पू. के आस-पास द्रविड़भाषी समुदाय आए।

ये लोग द्रविड़ भाषाएं बोलते थे। इस भाषा परिवार से तेलुगु, कन्नड़, तमिल और मलयालम, इन चार प्रमुख भाषाओं के अलावा बहुत सारी दूसरी ऐसी भाषाएं भी पैदा हुई हैं जिनका कोई स्पष्ट व्याकरण या लिपि नहीं है। इसके बाद उत्तरी मेसोपोटामिया और ईरान से होते हुए उराल पर्वत शृंखला के दक्षिण में स्थित यूरेशियाई पट्टी से भारोपीय (भारत-यूरोपीय) भाषा परिवार की भाषाएं बोलने वाले समुदाय यहां आए जो भाषाई दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। आर्य भाषा पश्चिम से भारत की ओर आई अलग-अलग जत्थों के साथ भारत पहुंची और जल्दी ही पंजाब और गंगा की घाटी में फैल गई। द्रविड़ियन और ऑस्ट्रिक मूल की भाषाएं उसके सामने कमजोर पड़ गईं और धीरे-धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्य भाषाएं बोलने लगा। यहां तक कि यह भाषाएं असम और उत्तरी दक्कन के एक बड़े हिस्से तक भी जा पहुंचीं।

आर्य भाषाएं तीन अलग-अलग चरणों—पुरानी भारतीय-आर्यन (ओआईए), मध्य भारतीय-आर्यन (एमआईए) और नयी भारतीय-आर्यन (एनआईए)—में विकसित हुईं। ऋग्वेद की भाषा भारत में आर्य भाषाओं की सबसे पहले चरण (ओआईए) की भाषा है। ऋग्वेद का यह संकलन संभवत: दसवीं शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास हुआ है परंतु इसके कई हिस्से काफी पुराने भी हैं। इस पुरानी भारतीय-आर्यन भाषा का एक तुलनात्मक रूप से युवा संस्करण संस्कृत के रूप में स्थापित हुआ। 500 ई.पू. के आस-पास तक आते-आते संस्कृत हिंदू भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक विमर्श की स्थापित भाषा बन चुकी थी। मध्य भारतीय-आर्यन चरण में बोली जाने वाली आर्य भाषा के मौखिक स्वरूप 600 ई.पू. से 1000 ईस्वी के बीच लिखे गए विभिन्न प्राकृत (जिनमें पाली भी शामिल है) ग्रंथों और अपभ्रंश में दिखाई देते हैं। इसके बाद इन भाषाओं ने नई या आधुनिक भारतीय-आर्यन भाषाओं के लिए रास्ता साफ कर दिया। मौजूदा भाषाएं इसी तीसरे दौर की उपज हैं। संस्कृत भाषा प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक महान वाहक बन गई और यह 'बृहत्तर भारत'—बर्मा, इंडो-चाइना, मलाया और इंडोनेशिया से लेकर प्राचीन कालीन मध्य एशिया या सेरेंडिया—तक जा पहुंची। यहां तक कि तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में भी संस्कृत का पठन-पाठन होने लगा। पिछले 2,500 सालों में जब भी कभी नए शब्दों की जरूरत पैदा हुई है, संस्कृत ने ही एक से एक नए शब्द मुहैया कराए हैं। और आखिर में उत्तर-पश्चिमी चीन में स्थित लोग अपने आदिकालीन घरों से निकल कर और हिमालय की चोटियों से होते हुए चीनी-तिब्बती भाषा परिवार की भाषाएं बोलने वाले भारत आए। ये लोग सबसे पहले भारत के उत्तर-पूर्वी इलाके में आकर रुके। ऊपर हमने जिन चारों भाषा परिवारों का ज़िक्र किया है उनमें भारतीय-आर्यन भाषा परिवार सबसे विशाल क्षेत्रफल में फैला हुआ है और इसे बोलने वालों की तादाद भी सबसे ज़्यादा (लगभग 75 प्रतिशत) है। इसके बाद द्रविड़ियन भाषा परिवार का स्थान आता है जिसे लगभग 22 प्रतिशत लोग बोलते हैं। भारतीय-आर्यन भाषा परिवार की भाषाएं बोलने वाले अप्रवासी असल में संख्या के लिहाज से भी औरों से बहुत ज़्यादा थे। इसके विपरीत चीनी-तिब्बती (या तिब्बती-बर्मी) भाषा परिवार की भाषाएं बोलने वालों के समुदाय बहुत छोटे-छोटे हैं मगर उनकी संख्या इन चारों समूहों में सबसे ज़्यादा है।

ऊपर जिस भाषायी परिदृश्य की तस्वीर खींची गई हैं उससे बहुलता के साथ-साथ एक बेजोड़ भाषायी निरंतरता का भी पता चलता है। दुनिया के थोड़े-बहुत समाज ही पिछले 3,000 सालों के दौरान एक ऐसे विशद भाषायी प्रवाह का दावा कर सकते हैं। निरंतरता के साथ-साथ बदलाव भी भारत के भाषायी विकासक्रम का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं। यह प्रक्रिया पिछली सहस्राब्दी के दौरान भी निर्बाध और सहज रूप से जारी रही है।

तकरीबन दसवीं-ग्यारहवीं सदी से नई भारतीय-आर्यन (एनआईए) भाषाओं के विकास की एक निरंतर और सहज प्रक्रिया चली है। यह प्रक्रिया अठारहवीं सदी तक जारी रही। इस प्रक्रिया का एक मुख्य पहलू यह था कि इस दौरान एक साझा भाषायी परंपरा विकसित हुई और वह भारत के एक बहुत बड़े हिस्से (उत्तर एवं मध्य भारत तथा दक्षिण भारत के कुछ हिस्से) में फैल गई। इसके साथ ही एक शक्तिशाली साहित्यिक परंपरा भी विकसित हुई। इस भाषा को वैसे तो कई नामों से संबोधित किया गया है मगर हिंदवी, हिंदुई या हिंदी इसके सबसे प्रचलित नाम रहे हैं। इसे हिंदी (यानी हिंद की भाषा) नाम संभवत: दिल्ली के प्रख्यात फ़ारसी कवि अमीर खुसरो (1253-1325) ने दिया था। 1318 के आस-पास लिखे गए अपने प्रसिद्ध फ़ारसी महाकाव्य नूर सिप-हर (नौ आसमान) में अमीर खुसरो ने भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की शिनाख़्त की है और उन सबको हिंदवी से जोड़कर दिखाया है : 'सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलुगू, गुजराती, तमिल, असमिया, बंगाली, अवधी—ये सारी ज़बानें प्राचीन काल से हिंदवी के नाम से जानी जाती रही हैं।'

सिंदी-ओ-लाहोरी-ओ कश्मीर-ओ-गर
धुर समंदरी तिलगी ओ गुजर।
माबरी-ओ गोरी-ओ-बंगाल-ओ-अवध
दिल्ली-ओ-पैरामकश अंदर हमाहद
ईं हमा हिन्दवीस्त ज़ि एय्याम-ए-कुहन
आम्मा बकारस्त बहर गूना सुखन।

अमीर खुसरो को भारतीय भाषाओं की गिनती करने वाला पहला व्यक्ति माना जा सकता है। उन्होंने ग्रियर्सन से कई सदी पहले यह काम किया था। खुसरो ने संस्कृत का ज़िक्र करते हुए उसे हिंदी से अलग बताया है : 'इनके अलावा कुछ और भाषाएं भी हैं जिनमें ब्राह्मणों की भाषा की एक खास ही जगह है। इसे प्राचीन काल से संस्कृत के नाम से जाना जाता रहा है और आम लोग इसकी बारीकियों से वाकिफ नहीं हैं।'
लेक ज़बानीस्त दिगर कस सुख़्ना
आनस्त गुज़ीं निज्द हमां बरहमना
सेंसकिरत नाम ज़ि अहद-ए-कुहनश
आम्मा नदारद खबर अज़ कुन मकुनश।

उन्होंने हिंदवी की फ़ारसी और अरबी से भी तुलना की तथा हिंदवी को इन दोनों भाषाओं से ज़्यादा आसान और लोकप्रिय बताया क्योंकि इसकी 'ध्वनियां ज़्यादा कर्णप्रिय' हैं।
इस्बात गुफ्त हिंद बहुज्जत कि राजेहस्त
बर पारसी-ओ तुर्कि अज़ अलफ़ाज़-ए-खुश गवार।

मध्यकाल में हिंदवी जिस तरह फली-फूली, उसके लिहाज से देखें तो कायदे से यह कोई भाषा थी ही नहीं। यह तो संचार का एक मिला-जुला ज़रिया भर थी। भौगोलिक रूप से इसका प्रभावक्षेत्र बहुत बड़ा था और बहुत सारे भाषायी समुदाय एवं बोलियां इसके दायरे में आ जाती थीं। यह मुख्य रूप से संचार, बाज़ार और साहित्य की भाषा थी। इस दौरान रीति-रिवाज़ की भाषा संस्कृत और शासन की भाषा फ़ारसी थी। हिंदवी में लिखी गई साहित्यिक रचनाओं में रूमानी कृतियां, भक्ति साहित्य और लाक्षणिक कृतियां भी शामिल थीं। ये रचनाएं न केवल मौखिक रूप से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचती थीं बल्कि उन्हें नागरी और फ़ारसी, दोनों लिपियों में लिखा भी जाता था। यह भाषा शास्त्रीय संस्कृत और फ़ारसी के साथ-साथ स्थानीय भाषाओं से भी नए-नए शब्द ग्रहण करती जा रही थी। परंतु इसके विकासक्रम में ऐसी आशंका कभी पैदा नहीं हुई कि संस्कृत और फ़ारसी पर निर्भरता के कारण यह भाषा किसी दिन संस्कृत या फ़ारसी साहित्यिक परंपरा में विलीन हो जाएगी। एक भाषायी सम्मिश्रण के लिहाज से हिंदवी में बहुत सारी बोलियां समायी हुई थीं जिनमें से कुछ (खासतौर से ब्रज और अवधी) की अपनी एक समृद्ध साहित्यिक परंपरा थी। संस्कृत और फ़ारसी जैसी शास्त्रीय भाषाओं से अपनी दूरी के कारण मध्यकालीन भक्ति और सूफ़ी आंदोलनों ने भी इस भाषा का काफी बड़े पैमाने पर सहारा लिया। हिंदवी परंपरा के तहत अलग-अलग शैलियों में लिखने वाले लोकप्रिय कवियों में कबीर, तुलसीदास, सूरदास, बंदानवाज़ गेसू दरज़, विद्यापति और मीराबाई प्रमुख थे। कबीर खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी और राजस्थानी सभी में आसानी से लिख-पढ़ लेते थे। तुलसीदास अवधी में, सूरदास ब्रज में, बंदानवाज़ दक्खनी में, विद्यापति मैथिली में और मीराबाई मारवाड़ी या डिंगल भाषाओं में कविताएं लिखती थीं। मानकीकरण के अभाव में इस भाषा को अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाने लगा। हिंदवी के अलावा कई जगह लोग इसे देहलवी (दिल्ली के नाम से), दक्कनी या दक्खनी (दक्कन, दक्षिण के आधार पर), भाखा या भाषा और कई अन्य नामों से भी संबोधित करते थे। अपने महाकाव्य रामचरितमानस में तुलसीदास ने अपनी भाषा का नाम भाखा बताया है।

विभिन्न क्षेत्रों और धार्मिक समुदायों तक पहुंच को देखते हुए यह भाषा समन्वयवादी साहित्य का एक शक्तिशाली माध्यम थी। कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी जैसे कवि और बेलग्राम (पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित) के बहुत सारे कवि धार्मिक सद्भाव जैसे विषयों पर साहित्य लेखन करते थे। हिंदवी परंपरा नज़ीर अकबराबादी (1740-1830) की शायरी के साथ अपने शिखर पर

पहुंच गई। 'आम आदमी का महान शायर' कहलाने वाले नज़ीर ने अपने शहर आगरा को केंद्र में रखकर दैनिक जीवन के बहुत सारे पहलुओं पर एक से एक कविताएं लिखीं। उन्होंने मेलों और त्यौहारों (ईद, होली, कृष्णलीला और स्थानीय मेले), देवताओं और संतों (कृष्ण, गणेश, पैगंबर मुहम्मद, नानक), स्थानीय खेलों (कबड्डी) और आम लोगों (दस्तकार, करघे वाले, वेश्याएं, कुंजड़े, दुकानदार आदि)—सब पर अपनी कलम चलायी। इसके अलावा उन्होंने युवावस्था, बुढ़ापे, मौत और मनुष्यता जैसे सार्वभौमिक विषयों पर भी कविताएं लिखीं। नज़ीर ने न केवल हिंदवी साहित्य को एक नया आयाम दिया बल्कि उन्होंने इस भाषा को एक नई प्रखरता व जीवंतता भी प्रदान कर दी।

हिंदवी के विकासक्रम से हमारे देश के भाषायी फलक का अनूठापन उजागर हो जाता है। मध्यकाल के बाद सदियों तक यह अकेली भाषा देश के ज़्यादातर हिस्सों पर छायी रही। आज बोली जाने वाली हिंदी के विपरीत मध्यकालीन हिंदवी (या पुरानी हिंदी) के बोलने और चाहने वाले देश के दक्षिणी हिस्सों सहित पूरे भारत में फैले हुए थे। गुजरात के मियां मुस्तफ़ा इस भाषा की जीवंतता का एक बेहतरीन उदाहरण हैं। सोलहवीं सदी के कवि मियां मुस्तफ़ा जौनपुर के सैयद मोहम्मद मेहदी (मृत्यु 1504 ई-) को अपना गुरु मानते थे। मजे की बात यह है कि सैयद मोहम्मद मेहदी मियां मुस्तफ़ा के गांव से हज़ार किलोमीटर दूर के रहने वाले थे। मियां मुस्तफ़ा को इस बात पर भारी एतराज़ था कि फ़ारसी के शायर हिंदवी को नीची नज़र से देखते हैं। इसीलिए सोलहवीं सदी की शुरुआत में उन्होंने हिंदी की हिमायत में एक कविता लिखी :

हिंदी को ना मारो ताना / सभी बतावें हिंदी माना
वह जो है कुरआन ख़ुदा का / हिंदी करे बखान सदा का
हिंदी मेहदी ने फरमायी / खुंदमीर के मुख पर आयी
कई दोहरे, साखी, बात / बोले खोल मुबारक जात
मियां मुस्तफा ने भी कही / और किसी की तब क्या रही ?

इस कविता की सबसे बड़ी ताकत इसकी भाषा है। हालांकि यह चार सदी से भी ज़्यादा पहले लिखी गई थी मगर उसकी भाषा को बीसवीं सदी के बाज़ारों की हिंदी की तरह अभी भी आसानी से समझा और अपनाया जा सकता है। इस तरह के अनगिनत उदाहरण गिनाए जा सकते हैं। बारहवीं-तेरहवीं सदी के बाद ऐसी बहुत सारी साहित्यिक कृतियां ढूंढी जा सकती हैं जिनकी भाषा आज की हिंदुस्तानी से गहरे तौर पर मिलती-जुलती थी। यहां इस बात को दर्ज करना जरूरी है कि हिंदवी ने न केवल भाषायी एकता का रास्ता साफ किया बल्कि उसने सदियों के सफर में देश को सांस्कृतिक एकता व निरंतरता के सूत्र में पिरोने का ऐतिहासिक काम भी किया। भारतीय भाषाओं की एक खासियत यह है कि उनके वर्चस्व या फैलाव से छोटी अल्पसंख्यक भाषाओं को कोई खतरा पैदा नहीं हुआ। भारत को भाषायी दृष्टि से बहुलवादी या बहुभाषायी देश सिर्फ इसलिए नहीं कहा जाता है क्योंकि यहां बहुत सारी भाषाएं बोली जाती हैं बल्कि वह इसलिए भी इस सम्मान का हकदार है क्योंकि यहां वर्चस्वशाली भाषाओं से घिरी हुई छोटी-छोटी भाषाएं भी सदियों तक अक्षुण्ण रही हैं। उनके सामने अपने इलाके की वर्चस्वशाली भाषा में विलीन हो जाने का लेशमात्र भी ख़तरा पैदा नहीं हुआ। मदुरै में सौराष्ट्री, तंजौर में मराठी, मैसूर व मद्रास में उर्दू, बनारस में बंगाली, मथुरा में तमिल, मुंबई में मलयालम बोलने वाले समुदायों की मौजूदगी इस बात के बेहतरीन उदाहरण हैं। यह हमारे भाषायी परिदृश्य की एक अनूठी विशेषता है जो यूरोप में दिखाई नहीं देती जहां ज़्यादातर अल्पसंख्यक भाषाएं समय के साथ खत्म हो गईं।

संक्षेप में, भारत का भाषायी फलक अपनी बहुलता, समन्वयवाद और निरंतरता के लिहाज से अपनी एक अलग पहचान रखता है। इस फलक का साझा स्वरूप सभी भाषाओं के बीच परस्पर संबंधों में निहित है। इसमें सदियों की एक निरंतरता दिखाई देती है क्योंकि यहां के नित नए बदलावों ने कभी किसी भाषा को हटाकर दूसरी भाषा को स्थापित करने का काम नहीं किया। भारत का भाषायी विकासक्रम पुरानी भाषा के स्थान पर नई भाषा की स्थापना के बजाय पुरानी भाषा में नई भाषा के समावेश और उनके सहअस्तित्व का सिलसिला रहा है। भारत की भाषायी परंपरा के इस बेमिसाल साझेपन को उत्तर भारत के बाज़ारों में इस्तेमाल होने वाले बहुत सारे आम जुमलों से समझा जा सकता है। इस तरह के ज़्यादातर जुमले कई अलग-अलग भाषाओं से लिए गए हैं। धन-दौलत, धर्म-ईमान, साग-सब्ज़ी जैसे शब्द इस बात का बेहतरीन उदाहरण हैं कि संस्कृत और फ़ारसी साहित्यिक परंपराओं के परस्पर मेल ने कितनी सुंदर अभिव्यक्तियों को जन्म दिया है।

नववर्ष की पहेली

प्राचीन काल की अधिकांश सभ्यताओं में नया साल बसन्त ऋतु से शुरू होता था। बसन्त नए जीवन का प्रतीक है। इस मौसम में ज्यादातर पेड़-पौधों में फूल आने लगते हैं। जैसे 4,000 साल पहले की मेसोपोटेमिया सभ्यता (आज का इराक) में नया साल बसन्त के नवचन्द्रोदय से शुरू होता था। बिहु (भारत में असम का बसन्त त्यौहार), बैसाखी (भारत में पंजाब में फसल कटाई का त्यौहार 13-14 अप्रैल), चैती चाँद (सिन्धी समुदाय का नया साल, मार्च-अप्रैल), नवरोज (पारसी समुदाय समेत ईरान, ईराक, तुर्की और मध्य एशियाई देशों का नववर्ष), पोइला बैसाख (पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश का नववर्ष), पुतान्डू (तमिल लोगों का नया साल), उगाड़ी (तेलुगू व कन्नड़ लोगों का नया साल), विशु (केरल में कटाई का त्यौहार) सभी बसन्त के आगमन पर होते हैं।

खेती और जीवन

मौसम से खेती का सीधा जुड़ाव है। मौसम की पहेली बूझने के लिए इन्सान कई तरह की पूजा करने लगा। असल में जिसे हम खेती कहते हैं वह जीवन जीने की एक पद्धति बन गई। सब कुछ उसी के अनुसार होने लगा। धीरे-धीरे इन्सान मौसम को पहचानने लगा। हवा की दिशा समझकर और मिट्टी को सूँघकर उसने अंदाजा लगाना सीख लिया। अलग-अलग इलाकों में वहाँ के भूगोल के अनुसार इन्सान ने खेती का विकास किया। जहाँ ज्यादा पानी होता है, वहाँ चावल। जहाँ कम पानी होता है, वहाँ तिलहन उगाया जाता है। अगर भारत में ही देखें तो हज़ार तरह का अनाज यहाँ उगाया जाता है। मकान बनाने की कला भी खेती के विकास के साथ आई। अब मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और गाय के गोबर से कच्चे मकान बनने लगे। फसल के बचे खुचे हिस्सों और मिट्टी के बने खपरैल से छप्पर बनाया गया। कपड़े भी पहले लोग खुद ही बना लेते थे। इस तरह रोटी, कपड़ा, मकान सबसे खेती जुड़ गई। खेती ने इन्सान को आत्म-निर्भर बनाया।

नुआखाई

खेती के चक्र से बहुत हद तक जुड़ा है उत्सवों का चक्र। खेती का काम शुरू होते वक्त और खासकर फसल कटने के बाद उत्सव मनाए जाते हैं। अच्छी फसल की प्रार्थना के लिए और खुशियाँ मनाने के लिए। ऐसा ही एक उत्सव है नुआखाई। इसका आनंद लेने चलते हैं उड़ीसा राज्य के संबलपुर जिले में। यहाँ जोर-शोर से तैयारियाँ चल रही हैं। नुआखाई के दिन सुबह कुलदेवी और गाँव की देवी की पूजा की जाती है। इसमें पहली फसल का धान सबसे पहले देवी को चढ़ाते हैं। उसके बाद ही धान रोज़ाना के इस्तेमाल में लाया जाता है। मगर एक दिक्कत सामने आई। पूजा के लिए लाया गया धान हाइब्रिड था मतलब खालिस नहीं, संकर प्रजाति का था। और पूजा सिर्फ ऐसे धान से ही हो सकती है, जो पवित्र माना जाता है। बड़ी मुश्किल से खोजकर कहीं से एक मुट्ठी देसी धान लाया गया। कारण, अब सभी लोग हाइब्रिड धान की खेती करने लगे हैं। इस देसी धान को बाकी धान के साथ मिलाकर उसे पवित्र किया गया। जैसे कुछ लोग गंगाजल छिड़ककर चीज़ों को पवित्र करते हैं। इसके बाद ही पूजा शुरू हो सकी। नौकरी की तलाश में दूसरे राज्यों में गए लोग भी आज के दिन घर आए थे। इससे खुशियाँ दुगनी हो गई थीं। रात में औरत-मर्द सब जुटे और परिवार के बुजुर्ग ने सबको 'नाबाराना' परोसा। चावल की नई फसल को पकाकर नाबाराना बनाते हैं। फिर सबने साथ बैठकर नाबाराना और अन्य पकवान खाए। खाने में मांस भी परोसा गया। नुआखाई के दिन मांस खाना ज़रूरी समझा जाता है। मानते हैं कि इस दिन मांस नहीं खाने वाला अगले जन्म में सारस बनकर पैदा होगा।

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 4

विभिन्न रूपों की खोज

(सृजनात्मक अभिव्यक्ति)

⊙ उद्देश्य

साझी विरासत के विभिन्न रूपों के साथ जुड़ाव महसूस करना।

प्रक्रिया

- साझी विरासत की अवधारणा को और भी गहराई से समझने के लिए यह एक प्रायोगिक सत्र है।
- यह अभ्यास एक स्वैच्छिक प्रक्रिया है। सहभागी इस सत्र का भरपूर आनन्द लें।
- इस सत्र के लिए अधिक समय की ज़रूरत होती है अत: फेसिलिटेटर समय के लिए लचीला रूख़ अपनायें।
- सहभागियों को साझी विरासत के अधिक से अधिक रूप प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
- सामूहिक प्रस्तुतियों को ज़्यादा से ज़्यादा प्रोत्साहित करें।
- हर समूह अपनी प्रस्तुति के बाद यह बतायें कि उन्होने साझी विरासत के किस रूप को प्रस्तुत किया और क्यों?
- फेसिलिटेटर सारी प्रस्तुतियों के बाद निम्न विन्दुओं पर डीब्रीफिंग करें।
    1. प्रस्तुति के दौरान आप कैसा महसूस कर रहे थे?
    2. प्रस्तुति के बाद आप कैसा महसूस कर रहे हैं?
    3. कार्यशाला के पहले दिन और आज के अनुभवों में क्या अन्तर महसूस कर रहे हैं?
    4. कल्पना करें कि साझी विरासत के सारे रूपों के बगैर हमारा समाज कैसा होगा?
- फेसिलिटेटर अन्त में डीब्रीफिंग में उभरे समाज के दो तरह के चित्रों को फिर से प्रतिभागियों के समक्ष प्रस्तुत करें।

आवश्यक सामग्री

सहभागियों को कहें कि वे अभिव्यक्ति के माध्यम की आवश्यकताओं के अनुसार सामग्री का चुनाव कर सकते हैं। उन्हें क्या चाहिए, इसका फैसला उन्हें स्वयं करना होगा।

समय

आधा दिन

फेसिलिटेटर नोट

अभ्यास शुरू करते ही हंसी-खुशी का माहौल बनाने का प्रयास करें। माहौल तैयार करने के लिए फेसिलिटेटर को अपनी ओर से कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। ऐसा करने से सहभागियों की हिचक दूर होगी।

अवधारणा के सत्र में सहभागियों ने साझी विरासत के विभिन्न रूपों की सूची बनाई है। अब इस सत्र में वे इनमें से कुछ रूपों को प्रस्तुत करेंगे यानि जीने का प्रयास करेंगे।

सहभागियों को यह अहसास कराने की कोशिश करें कि यह सत्र आनंददायक और मनोरंजक प्रक्रिया है। यदि सहभागी आनन्द का अनुभव करते हैं तो वे अतीत की यादों में खोकर, गीतों, कहानियों, महाकाव्यों, नाटकों, कठपुतलियों के करतबों, लोक संगीत, त्यौहारों, स्थानीय-मेले-तमाशों के रूप में साझी विरासत के अनेक रूपों को याद कर सकते हैं। लोग अपने अतीत को दीवानगी की हद तक प्यार करते हैं। इस बात का ध्यान फेसिलिटेटर को रखना चाहिए। ज्यादातर लोगों में अपने अतीत को फिर से जीने की इच्छा होती है। इसके कड़वे अनुभव भी वर्तमान में अच्छे लगने लगते हैं। इसलिए यदि फेसिलिटेटर उन्हें अपने अतीत को याद करने और उन्हें फिर से जीने का आग्रह करें तो वे खुशी-खुशी ऐसा करने को न केवल तैयार हो जायेंगे अपितु अपनी यादों का प्रदर्शन भी करेंगे। ये प्रदर्शन दूसरे सहभागियों को बहुत गहराई तक प्रभावित करेंगे। हम देखेंगे कि इस सत्र के दौरान समूह ने प्रदर्शन के लिए जिन रूपों को चुना है, संभवत: उनका विकास भी उन्हीं के क्षेत्र में हुआ हो, और वहां से वह अन्य क्षेत्रों में फैला हो। संभव है इस रूप ने विभिन्न सामाजिक समूहों को एक साथ लाने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया हो। इस प्रक्रिया से सहभागी यह अनुभव कर सकेंगे कि लोग जाति, धर्म, समुदाय और मत-मतांतर आदि से निरपेक्ष होकर सदियों से एक दूसरे के साथ रहते आए हैं। इस प्रक्रिया के बाद सहभागी साझी विरासत को समुदायों के बीच सौहार्द की कड़ी के रूप में देखेंगे।

कुछ लोगों का मत हो सकता है कि इस रूप ने अपनी ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह कर लिया है। आज के संदर्भ में अब इसकी कोई भूमिका नहीं बची है। दूसरे लोगों का मत हो सकता है बावजूद इसके कि ये रूप आज भी प्रासंगिक है। अन्य का विचार हो सकता है कि प्रासंगिकता के कम होने के बावजूद भी इनका संरक्षण किया जाना चाहिए। कुछ, इन विचारों से असहमत हो कह सकते हैं कि हम आधुनिक संसार में रहते हैं। हमारे पास आधुनिक संसार की आवश्यकताओं के अनुकूल अनेक विचार हैं, अत: हमें अतीत की चीजें जो हमारे किसी काम की नहीं इनसे चिपकना ठीक नहीं।

फेसिलिटेटर पठन सामग्री को ध्यानपूर्वक पढ़े, फिर अपने विचार प्रस्तुत करे। लेकिन एक बार में सब कुछ प्रस्तुत करना संभव नहीं। सहभागियों को पठन सामग्री दी जाये। वे उसे पढ़ें और बड़े समूह में अपने प्रश्नों को उठायें। भाषण द्वारा समझ विकसित करने से अच्छा है कि बड़े समूह में सवाल-जवाब हों। इससे विषय पर गहरी समझ बन सकेगी। अभ्यास के अंत तक आते-आते फेसिलिटेटर को स्वयं ही इस बात का आभास होने लगेगा कि सहभागियों में साझी विरासत की अवधारणा के नये आयाम खुलने लगे हैं। ये दोहरी प्रक्रिया है जिसमें फेसिलिटेटर और सहभागी दोनों ही सीखते हैं। फेसिलिटेटर द्वारा संचालित प्रत्येक सत्र के बाद साझी विरासत के रूपों की संख्या में वृद्धि होती नज़र आएगी।

नोट :

मुद्दे पर और बेहतर समझ बनाने के लिए फेसिलिटेटर पठन सामग्री 1, 2, 3, 4, 5 व 6 (पेज नं 38 से 59) पढ़ें।

पठन सामग्री-1

मेले और त्यौहार

आम धारणा यह है कि दक्षिण एशिया में ज्यादातर मेले और त्यौहार धार्मिक किस्म के होते हैं। यह बात पूरी तरह सही नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि दक्षिण एशिया में धर्म हमारे मेलों और त्यौहारों का एक मुख्य आधार रहा है लेकिन हमारे बहुत सारे मेले और त्यौहार हमारी जनश्रुतियों, स्थानीय परंपराओं, बदलते मौसमों, फसलों की कटाई आदि से भी संबंधित रहे हैं। ये त्यौहार आमतौर पर सभी धर्मों के लोगों में प्रचलित हैं। दक्षिण एशिया के मेले और त्यौहार न केवल संख्या की दृष्टि से बल्कि अपने उद्गम की दृष्टि से भी विविधतापूर्ण दिखाई देते हैं। ये मौके दक्षिण एशिया के सांस्कृतिक जीवन का सारतत्व हैं। एकता और बहुलता, दक्षिण एशियाई सांस्कृतिक जीवन के इन दोनों आयामों में स्पष्ट देखी जा सकती है कि समूचे उपमहाद्वीप में मेलों और त्यौहारों को लोग किस तरह मनाते हैं। नीचे हमने दक्षिण एशिया के मेलों और त्यौहारों की कुछ खास विशेषताओं का उल्लेख किया है।

1. हालांकि सभी त्यौहार खालिस धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित नहीं होते लेकिन सभी त्यौहारों में एक सामाजिक-धार्मिक समझ जरूर दिखाई देती है। प्रत्येक परंपरागत त्यौहार के दो आयाम होते हैं—पूजा-पाठ और उत्सव। पूजा की क्रिया एक खास धर्म तक सीमित होती है। उदाहरण के लिए होली, दीवाली और रामनवमी पर हिंदू अपने देवी देवताओं की व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर पर उपासना करते हैं। ईद पर मुसलमान नमाज पढ़ने मस्जिद जाते हैं और सामूहिक रूप से उपासना करते हैं। क्रिसमस पर ईसाई अपनी धार्मिक गतिविधियों को संपन्न करने के लिए गिरजाघर (चर्च) में जाते हैं। लेकिन इनमें से ज्यादातर त्यौहारों पर जो मेले आयोजित होते हैं उनमें केवल संबंधित समुदायों के लोग ही नहीं जाते। इन मेलों और समारोहों में सभी समुदायों के लोग हिस्सा लेते हैं। होली, दीवाली, ईद, बैसाखी, क्रिसमस आदि सभी त्यौहारों पर आसपास के सभी लोग हिस्सा लेते हैं। इसका मतलब है कि धार्मिक विषयवस्तु होते हुए भी इन त्यौहारों में एक साझापन और विभिन्न धर्मों के बीच एक सामाजिक सहसंबंध होता है।

2. ज्यादातर त्यौहार मौसमी किस्म के होते हैं। ये त्यौहार कटाई के मौसमों से जुड़े होते हैं। सभी मौसमी त्यौहार खरीफ (अगस्त-अक्तूबर) और रबी (मार्च-अप्रैल), इन दो कटाई के मौसमों में मनाए जाते हैं। बिहू (जनवरी का मध्य), ओणम (सितंबर-अक्तूबर), पोंगल (जनवरी का मध्य), वसंत पंचमी (फरवरी), मकर संक्रांति (जनवरी), लोहड़ी (जनवरी), बैसाखी (अप्रैल), इन सभी क्षेत्रीय त्यौहारों का एक खेतिहर स्रोत रहा है। ये सभी किसी न किसी फसल की कटाई से संबंधित त्यौहार हैं। इस प्रकार इन सभी त्यौहारों में कुछ साझा पहलू देखे जा सकते हैं।

3. खेती और कटाई से संबंधित होने के कारण इन त्यौहारों में गैर-धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष पहलू समारोह के स्तर पर बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। पतंगबाजी मकर संक्रांति के मेलों का एक खास पहलू रहा है। बिहू त्यौहार के समय बिहू नृत्य सबसे बड़ा आकर्षण होता है। देश के प्रमुख शास्त्रीय नृत्यों में शुमार होने वाला कथक्कली नृत्य ओणम के अवसर पर सबका मन मोह लेता है। ओणम के मौके पर नौका दौड़ (वल्लुमकली) का भी जबर्दस्त उत्साह से आयोजन किया जाता है। इस दौड़ में लगभग 100 आदमी गाजे-बाजों के शोर में खास तरह की नावों को तेजी से खेते हैं। लोहड़ी के समय पूरा पंजाब जोशोखरोश में डूब जाता है और भांगड़े की धुन पर थिरकता है। गुजरात में गरबा नृत्य के बिना नवरात्रि का त्यौहार अधूरा दिखता है। इस फेहरिस्त को और आगे बढ़ाया जा सकता है (बंगाल में दुर्गा पूजा, ज्यादातर उत्तरी भारत में दशहरा, ब्रज के इलाके में होली, महाराष्ट्र में गणेश चतुर्थी, आदि)। यदि इनमें से ज्यादातर त्यौहारों में उत्सव के तौर-तरीकों का अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि इन सभी के केंद्र में गैर-धार्मिक, यानी गैर-उपासना, गैर-सैद्धांतिक और गैर-विशिष्टतावादी गतिविधियों का ही बोलबाला रहता है।

4. ज्यादातर मेलों में धार्मिक आयाम महत्वपूर्ण नहीं होते। कुंभ मेले जैसे कुछ अवसर ही इसका अपवाद हैं जहां बड़ी संख्या में लोग धर्म के इर्द-गिर्द इकट्ठा होते हैं। मेलों में मुख्य रूप से मवेशियों, बकरियों, हाथ की बनी चीजों की खरीद-फरोख्त और अन्य गतिविधियों की बहुतायत रहती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि हमारे मेले दक्षिण एशिया की परंपरागत—व्यावसायिक ज़िंदगी का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालांकि कुछ मेलों में धार्मिक अनुष्ठान भी किए जाते हैं लेकिन उनका स्तर बहुत सीमित होता है।

दक्षिण एशिया के मेलों और त्यौहारों के मनाने का ढंग यहां के सांस्कृतिक जीवन के प्रमुख आयामों से मिलता-जुलता रहा है। यहां के त्यौहार मुख्य रूप से धार्मिक रहे हैं लेकिन वे पूरी तरह धार्मिक सिद्धांतों या कुछ खास लोगों तक सीमित नहीं होते। ये त्यौहार सिर्फ इस मायने में धार्मिक हैं क्योंकि उनका जन्म एक खास धर्म से हुआ है। लेकिन उत्सव पद्धति के लिहाज से धर्म उनमें ज्यादा महत्व नहीं रखता। इतना ही नहीं, धर्मों की गहरी विविधता और भिन्नता के बावजूद भी उनमें कुछ बुनियादी समानताएं ढूंढी जा सकती हैं। नाम और स्वरूप लिहाज से बहुत सारे त्यौहार भले ही भिन्न दिखाई देते हों लेकिन उन सबकी भावना और स्रोत एक होता है। मेले केवल सतही तौर पर धार्मिक दिखाई देते हैं और मुख्य रूप से ये दक्षिण एशिया की सांस्कृतिक-व्यावसायिक परंपराओं की उपज हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यदि त्यौहारों में धार्मिक या सैद्धांतिक विषयवस्तु होती है तो भी उनका स्वरूप हमेशा गैर-धार्मिक ही होता है। मेलों की अंतर्वस्तु भी अकसर गैर-धार्मिक दिखाई देती है। सभी धार्मिक-सांस्कृतिक रुझान ज्यादातर त्यौहारों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं लेकिन उनकी मूलभूत समानताओं पर कभी कोई संशय नहीं हो सकता। दक्षिण एशिया के मेले और त्यौहार इस उपमहाद्वीप की साझी विरासत, समन्वयवाद और बहुलता का एक भव्य प्रतीक हैं।

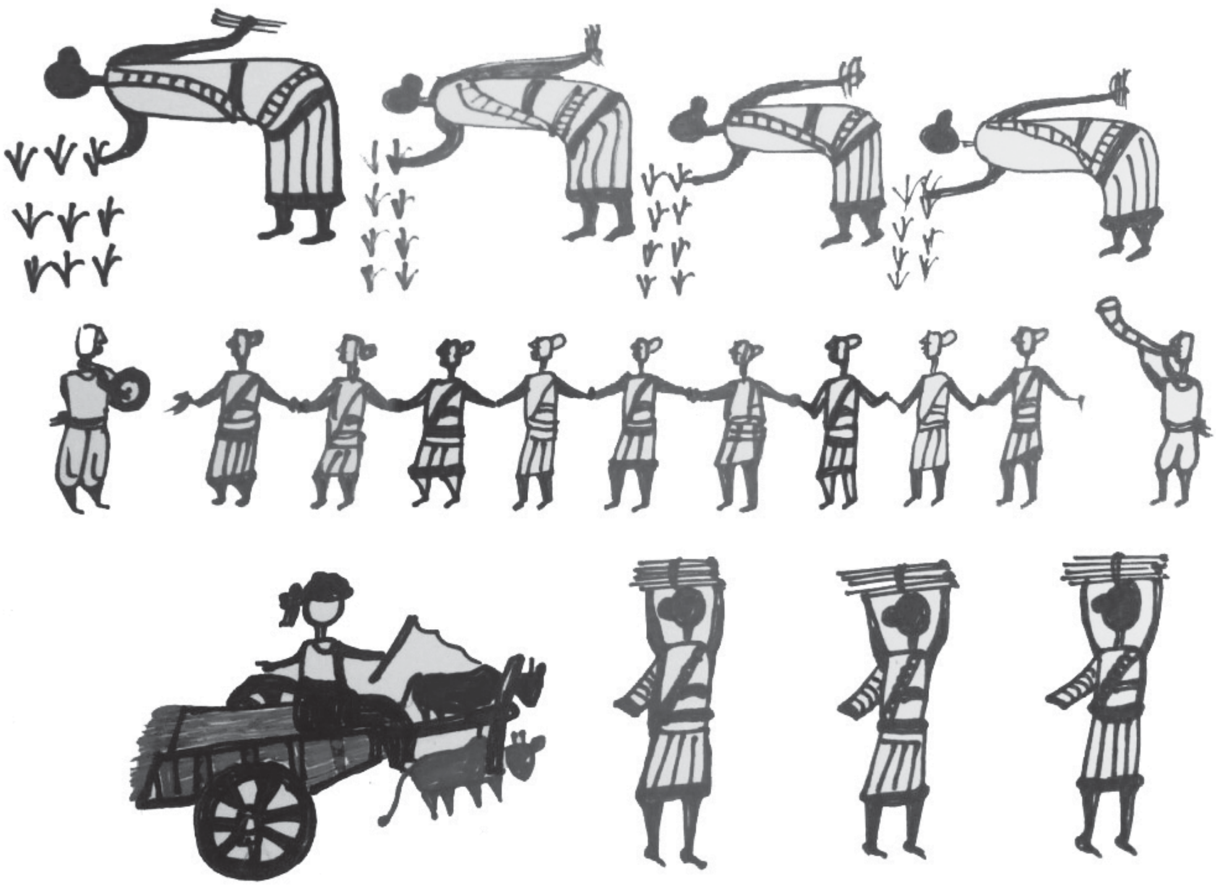

पठन सामग्री-2

भारत की लोक चित्रकलाएं

भारतीय चित्रकला में दो परंपराएं रही हैं—'शास्त्रीय' परंपरा और 'देसी' (वर्नाक्युलर) या लोकचित्र परंपरा। शास्त्रीय चित्रकला और पेंटिंग्स का उदय मुख्य रूप से ग्रामीण और जनजातीय समाजों की परंपराओं और मूल्य-मान्यताओं से हुआ है। शास्त्रीय कलाकृतियों के रूप में हमारे पास बहुत सारे भित्ति चित्र और लघुचित्र मौजूद हैं। शास्त्रीय कलाओं के क्षेत्र में हमारे पास दस्तकारों और उनके शिल्पसंघों वाले प्रख्यात गुरुकुल और केंद्र भी रहे हैं। दूसरी तरफ लोकचित्रों के मामले में चित्र बनाने की पूरी प्रक्रिया एक रस्मी अनुष्ठान का रूप ले लेती है। यह विधा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास स्वाभाविक रूप से चलती चली जाती है। इस तरह की चित्रकारी दीवारों और फर्श को सजाने के लिए बहुत इस्तेमाल होती है।

यदि शास्त्रीय चित्र या मंदिरों में पाई जाने वाली कला राजा-महाराजाओं और उनके राजपाट का ब्यौरा देती हैं, उनके जीवन, उनके विश्वासों और उनके देवी-देवताओं की जानकारी देती हैं तो वहीं दूसरी तरफ लोकचित्रों में आम लोगों की ज़िंदगी, उनकी मान्यताओं और किस्से-कहानियों, उनके देवी-देवताओं को चित्रित किया जाता है। भारत में ब्राह्मणवादी दर्शन और रूढ़िवादिता को सहारा देने वाली शास्त्रीय संस्कृति के समानांतर लोक संस्कृति अपने आस-पास के सभी तत्वों और उदारवादी विचारों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ी है। लोक संस्कृति की मुख्य चिंता बरसात, फसल, प्रकृति आदि के साथ जद्दोजहद पर केंद्रित रहती है। लोक संस्कृति और कलाओं में विश्वास रखने वाले इस सोच के साथ अपना जीवन जीते हैं कि उन्हें ज़िंदगी को जुए की तरह देखने की बजाय उसका मजा लेते हुए आगे बढ़ना है। जीवन के प्रति उनका गहरा अनुराग उनकी सजीव और रंग-बिरंगी पेंटिंगों में भी साफ दिखाई देता है।

हमारे देश में तीज-त्यौहार और मेलों के मौके पर प्राय: पूरा गांव एक जगह इकट्ठा होकर जश्न मनाता है। उनके चित्रों में भी पूरे समुदाय की हिस्सेदारी को महत्वपूर्ण माना जाता है। ज़्यादातर परंपरागत भारतीय चित्रों को एक के बजाय कई-कई कलाकार मिलकर बनाते हैं। सामूहिक रूप से विरसे में पाई अपनी नज़र और निपुणता को वह सामूहिक रूप से ही एक कलाकृति में भी उतार देते हैं।

इस सांस्कृतिक धारा में गुजरात के रतवा समुदाय की पिथौरो पेंटिंग, महाराष्ट्र की वर्ली पेंटिंग, बिहार में मिथिला की मधुबनी पेंटिंग, राजस्थान की फड़ चित्रकला, आंध्र प्रदेश की चेरियल पेंटिंग और पश्चिम बंगाल की पट पेंटिंग हमारी प्रमुख चित्र परंपराएं रही हैं।

रतवा समुदाय गुजरात के पंचमहल और बड़ौदा जिलों का एक महत्वपूर्ण समुदाय है। रतवा लोक चित्रकारी परंपरा में लोग अपने घरों की दीवारों पर सृष्टि की रचना और सुरक्षा एवं कल्याण के देवता पिथौरो के मिथकों को अंकित करते हैं। इन चित्रों को कई कलाकार एक साथ मिलकर तैयार करते हैं और उनमें सिर्फ पुरुष चित्रकार ही शामिल होते हैं। जिस समय कलाकार चित्र बना रहे होते हैं उसी समय दो या तीन गायक लगातार सृष्टि, पिथौरो और इंद्री राजा के मिथकों का बखान करते रहते हैं। चित्र पूरा होने के बाद स्वीकृति की एक और रस्म निभाई जाती है जिसमें पिथौरो की आत्मा से लैस बड़वा उस पेंटिंग की बारीकी से जांच करता है। उसकी अनुमति मिलने के बाद चित्र पर एक बकरी की बलि चढ़ाई जाती है।

वर्ली जनजातीय समुदाय महाराष्ट्र के थाणे जिले में सहयाद्री पर्वत शृंखला के जंगल में रहता है। वर्ली नाम 'वराल' शब्द से आया है। वराल का मतलब होता है ज़मीन का टुकड़ा या खेत। वर्ली समुदाय के लिए खेती-बाड़ी ही आजीविका का मुख्य

स्रोत है। इस समुदाय के लोग अपनी पेंटिंगों को बड़ा पवित्र मानते हैं। उनके चित्रों के बिना उनका विवाह समारोह भी संपन्न नहीं हो सकता। उनके चित्र बुनियादी तौर पर विवाह का उत्सव होते हैं। उनमें समुदाय के जीवन तथा गतिविधियों को एक खास अंदाज में चित्रित किया जाता है। वर्ली पेंटिंग अन्य लोक चित्र परंपराओं से काफी भिन्न है। अन्य पंरपराओं में चमकदार रंग ज़्यादा इस्तेमाल किए जाते हैं जबकि वर्ली पेंटिंग्स मिट्टी की भूरी या गाढ़ी लाल सतह पर सफेद रंग से बनाई जाती हैं।

मधुबनी पेंटिंग बिहार के मिथिला इलाके में मधुबनी के आस-पास स्थित गांवों में विकसित हुई एक परंपरागत चित्र शैली है। परंपरागत रूप से महिलाएं ये पेंटिंग्स बनाती हैं और उनमें मुख्य रूप से धार्मिक पात्रों को चित्रित किया जाता है। ये चित्र घर के खास कमरों (पूजा कक्ष, अनुष्ठान का स्थान, दुल्हन का कमरा) की दीवारों पर, गांव की मुख्य दीवारों पर किसी उत्सव या रस्म के समय बनाए जाते हैं। चित्र शुरू करने से पहले औरतें देवी-देवताओं के सामने प्रार्थना करती हैं। इन चित्रों के प्रतीक प्रकृति और पुराणों से लिए जाते हैं। इन चित्रों में हिंदू देवी-देवताओं और रामायण के दृश्यों का चित्रण सबसे अधिक लोकप्रिय है।

राजस्थान के भीलवाड़ा जिले में शाहपुरा स्थित मंदिर के जोशी लोग फड़ नामक पेंटिंग बनाते हैं। यह पेंटिंग बहुत लंबी होती है और उसे एक बांस या छड़ी पर लपेट कर रखा जाता है। इन चित्रों में स्थानीय जननायकों के जीवन का वर्णन किया जाता है। इसके बाद इन 'फड़ों' को गांव-गांव घूमने वाले भोपाओं को सौंप दिया जाता है। वह इन चित्रों को गांव-गांव ले जाते हैं और गा-गाकर इन चित्रों के बारे में लोगों को बताते हैं।

वारंगल, आंध्र प्रदेश में भी लंबी लिपटी हुई पेंटिंग बनाने की एक समृद्ध परंपरा रही है। इन्हें चेरियल पेंटिंग कहा जाता है। इन चित्रों में एक खास समुदाय के जन्म का विवरण दिया जाता है। समुदाय के देवी-देवताओं, दैत्यों और नायकों की कहानियां भी इन चित्रों का प्रिय विषय होती हैं। चेरियल गांव में वेंकटरमैया का परिवार ही संभवत: एकमात्र ऐसा परिवार है जो अभी भी इस विधा को आगे बढ़ा रहा है। एक ज़माने में यहां के लोग इसी तरह की लिपटी हुई पेंटिंग्स में लंबी-लंबी कहानियां चित्रित किया करते थे। पहले कथावाचकों के बीच भी इन चित्रों की भारी मांग थी। ये कथावाचक नक्काशियों द्वारा तैयार की गई इन पेंटिंगों को नाचते-गाते हुए गांव-गांव में दिखाया करते थे।

पट चित्र पश्चिम बंगाल का एक परंपरागत कला रूप है। धार्मिक और सामाजिक प्रतीक एवं कल्पनाएं इस विधा का मुख्य विषय हैं। पट बंगला का एक शब्द है जो संस्कृत के पट्टा अर्थात् कपड़ा से जन्मा है। इस कला का जन्म कहां हुआ इस बारे में ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। यहां तक कि इस समुदाय के जन्म के बारे में प्रचलित कहानियों से भी इस समुदाय के उदय का सही पता नहीं चल पाता। यहां के पटवा मुसलमान होते हुए भी हिंदू नाम रखते हैं और वह रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियां इन चित्रों में दर्शाते हैं। उनका जातिनाम या उपनाम चित्रकार होता है जिससे उनके व्यवसाय का पता चलता है। इन चित्रों को पट कहा जाता है और एक-एक पट दर्शकों के सामने दिखाते हुए गीतों के माध्यम से कहानियां सुनाई जाती हैं।

तेज शहरीकरण के दबाव में चित्रकारी की इन लोक परंपराओं को अब पहले जैसे सम्मान की नज़र से नहीं देखा जाता। इन परंपरागत चित्रकलाओं से जुड़े लोग भी मजबूरन अब मजदूरी या अन्य व्यवसायों में जाने लगे जिससे उनकी कला खत्म होने की कगार पर पहुंच गई है। आज उनकी कला को बचाने और उन्हें प्रोत्साहित करने की सबसे बड़ी जरूरत है।

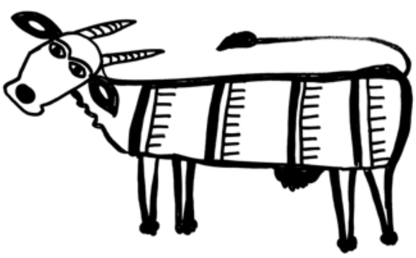

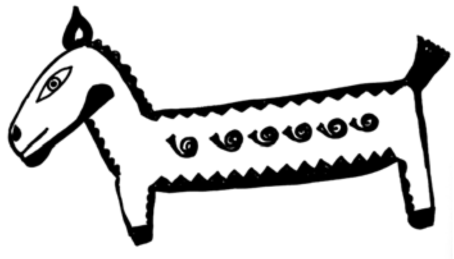

पठन सामग्री-3

लोक संगीत

भारी सांस्कृतिक विविधता के कारण हमारे देश में लोक संगीत और लोक शैलियों की एक समृद्ध परंपरा रही है। हर इलाके की अपनी एक खास शैली है और हर शैली की अपनी अलग बन-ठन, अलग मिजाज़ है।

कुछ सांस्कृतिक इतिहासकारों की राय है कि जनजातीय अथवा आदिवासी संगीत को भी लोक संगीत की श्रेणी में रखा जा सकता है परंतु ऐसा सोचना गलत होगा क्योंकि ये दोनों विधाएं एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर अलग हैं। जहां एक तरफ लोक संगीत व्यापक भारतीय समाज के स्पंदनों को प्रतिबिंबित करता है वहीं दूसरी तरफ जनजातीय संगीत इससे अलग कुछ विशिष्ट और सीमित दायरे में फैली संस्कृतियों की नुमाइंदगी करता है। हालांकि ये दोनों ही शैलियां सदियों के लंबे सफर में विकसित हुई हैं परंतु जनजातीय संगीत लोक संगीत से ज़्यादा पुराना है क्योंकि हमारे देश के आदिवासी या देशी समाज ही यहां के मूल निवासी थे। बहरहाल, जनजातीय और लोक संगीत, दोनों ही शैलियां पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुंची हैं। दोनों ही शैलियों में सीखने-सिखाने के औपचारिक तरीके या अवधि की व्यवस्था नहीं रही है। इसका अर्थ यह है कि संगीत की इन विधाओं से जुड़े लोग भारतीय शास्त्रीय संगीत के कलाकारों की तरह अपना पूरा जीवन संगीत को समर्पित नहीं करते क्योंकि जनजातीय एवं ग्रामीण जीवन परिस्थितियों में संगीत को औपचारिक ढंग से सीखना संभव नहीं है। जनजातीय और लोक संगीतकारों को संगीत के साथ-साथ शिकार, खेती-बाड़ी या अपने अन्य सामान्य कार्यों को भी करना पड़ता है जिसके कारण वह संगीत की शिक्षा-दीक्षा पर इतना ध्यान नहीं दे सकते।

गांव-टोले के बड़े-बुजुर्ग जब खाली होते हैं तो युवाओं को अपने संगीत की बारीकियों से वाकिफ कराते रहते हैं और उन्हें शादी-ब्याह, सगाई, जन्म आदि सामुदायिक उत्सवों पर अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जब खेतों में बुआई और कटाई होती है तब भी वहां संगीत की स्वर लहरियां सुनाई पड़ती हैं। इन मौकों पर ग्रामीण समुदाय के लोग गानों के ज़रिए ही अपनी उम्मीदों, अपने भय और अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं। कुछ इलाकों में जब लड़की को पहली बार मासिक स्राव होता है तो उस समय लड़की को यह बताने के लिए भी गीतों का सहारा लिया जाता है कि अब वह एक परिपूर्ण औरत की ज़िंदगी में दाखिल हो रही है और आने वाले समय में उसे वैवाहिक दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ेगा।

लोक गीतों में इस्तेमाल होने वाले वाद्य यंत्र शास्त्रीय संगीत की दुनिया में पाए जाने वाले विकसित और परिष्कृत वाद्य यंत्रों से बिल्कुल अलग होते हैं। ज़्यादातर लोक संगीतकार ऐसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते हैं जिन्हें संगीतकारों ने खुद ही बनाया होता है। लोक संगीतकार जिन यंत्रों का प्रयोग करते हैं उनमें डफ, ढोलक, नाल, नगाड़ा, इकतारा-दोतारा, सारिंगदा, रबाब, संतूर और पेंकली आदि प्रमुख हैं (अलग-अलग इलाके की बोली या भाषा के हिसाब से इन वाद्य यंत्रों के नाम अलग-अलग भी हो सकते हैं)।

किसी इलाके की किसी खास लोक शैली में अनगिनत वाद्य यंत्र इस्तेमाल होते पाए जा सकते हैं। सामान्य रूप से ये लोक वाद्य यंत्र स्थानीय स्तर पर उपलब्ध पशु-चर्म, वृक्षों की छाल, पेरीटोनियम, बांस, नारियल के खोल, घड़े आदि से बनाए जाते हैं। लोक संगीत के कुछ महत्वपूर्ण वाद्य यंत्रों की सूची नीचे दी गई है :

बांसुरी, चिमटा, डफ, ढोलक-ढोलकी, इकतारा-दोतारा, गेट्टुवाद्यम, घाटम, घुंघरू, खड़ताल, खौल, मगादी वीणा, मरचंग, नगाड़ा, नकुला, पुंग, पुंगी, रबाब, संतूर, शंख, गोपीचंद, थंथी पनाई, पेना, डमरू / इडक्का / उडाकू।

पठन सामग्री-4

गायन शैलियां

दक्षिण एशियाई क्षेत्र की सांस्कृतिक विशिष्टता, परंपराएं, मनोविज्ञान और व्यवहार में जबरदस्त समानताएं दिखाई देती हैं। एक खास कालखंड में इस उपमहाद्वीप में तीन देशों का उदय सोच के अलावा और किसी स्तर पर भिन्नताओं को जन्म नहीं दे रहा है। इन देशों में समानताएं अनगिनत हैं। संगीत एक ऐसा क्षेत्र है जहां इन समानताओं और साझेपन को सबसे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। हम आशा करते हैं कि गायन शैलियों के इस विवरण से हम इस उपमहाद्वीप को एक सूत्र में पिरोने वाले साझेपन को अच्छी तरह समझ पाएंगे।

शास्त्रीय-अर्धशास्त्रीय

ठुमरी

ठुमरी अर्धशास्त्रीय संगीत की एक श्रेणी है। आमतौर पर ठुमरी के बोल कृष्ण के प्रति रूमानी प्यार को केंद्र में रखकर लिखे जाते हैं और यह आमतौर पर उत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली बृज भाषा में लिखी जाती है। इसकी धुनें आमतौर पर कहरवा राग 8 ताल, या 16 ताल की अधाताल पर आधारित होती हैं। ठुमरी संगीत उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान काफी तेजी से लोकप्रिय हुआ।

दादरा

दादरा भी एक अर्धशास्त्रीय शैली है और यह ठुमरी से काफी मिलता-जुलता है। दादरा की धुनें रचते हुए कलाकार को तुलनात्मक रूप से ज़्यादा स्वतंत्रता मिलती है। इसमें कोई भी हल्की ताल इस्तेमाल की जा सकती है और कई बार इसे 8 ताल के कहरवा के अनुसार भी रचा जाता है। दादरा में पीलू या पहाड़ी रागों का इस्तेमाल किया जाता है।

ध्रुपद

उत्तरी भारत में शास्त्रीय संगीत की प्रचलित शैलियों में ध्रुपद को सबसे पुरानी शैलियों में गिना जाता है। महान गायक तानसेन के ज़माने में ध्रुपद लोकप्रियता के शिखर पर था। तानसेन संस्कृति और ज्ञान के महान उपासक सम्राट अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक थे। ध्रुपद में उसकी शुद्धता और ताल के अनुशासन का खास ध्यान रखा जाता है। ध्रुपद को पखावज (मृदंग) के साथ गाया जाता है। ध्रुपद की शब्द रचना अलग-अलग विषयों पर केंद्रित होती है परंतु आमतौर पर यह राजाओं की विजय, पौराणिक कथाओं या भक्ति गीतों के इर्द-गिर्द केंद्रित रहती है। ध्रुपद को चार हिस्सों की संरचना (स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग) में संगीतबद्ध किया जाता है और यह आमतौर पर बारह तालों के चौताल, सात तालों के तिवड़ा और चौदह तालों के फरोदस्त पर आधारित होती है। यह हिंदुस्तानी संगीत की सबसे कठिन शैलियों में से एक है। ध्रुपद की औपचारिक बनावट और अनुशासन के कारण आम लोगों को इसे समझने में खासी दिक्कत आती है और अब कुछ गिने-चुने गायक ही इस शैली में गायन करते हैं। ध्रुपद का एक वाद्य यंत्र स्वरूप भी है—इसका अर्थ है कि अब उसे बजाया भी जाने लगा है। यह इसके गायन स्वरूप की ही नकल है।

धमार

ध्रुपद की तरह धमार भी गायन की एक बहुत पुरानी शैली है। धमार का भी एक वाद्य यंत्र स्वरूप होता है। हालांकि यह शैली ध्रुपद से काफी मिलती-जुलती है मगर इसका स्वरूप ज़्यादा रूमानी होता है। इसके विषय कृष्ण के इर्द-गिर्द केंद्रित होते हैं। धमार को होरी भी कहा जाता है और यह चौदह तालों पर आधारित है। ध्रुपद की तरह धमार को गाने-बजाने वाले भी अब बहुत कम ही रह गए हैं।

तराना

यह शैली निरर्थक ध्वनियों को बहुत तेजी से बोलते जाने पर आधारित है। कहा जाता है कि इस शैली को महान कवि और संगीतकार अमीर खुसरो ने ईजाद किया था। यह शैली पूरे भारत में पाई जाती है। कर्नाटक संगीत में तराना को टिल्लाना कहा जाता है और वहां इसका इस्तेमाल आमतौर पर नृत्य कार्यक्रमों में होता है।

ख़याल

ख़याल शब्द फ़ारसी भाषा से आया है। इसका अर्थ होता है 'सोच' या 'कल्पना।' जहां एक तरफ ध्रुपद में शब्दों पर खास ध्यान दिया जाता है वहीं दूसरी तरफ ख़याल में छोटे-छोटे गीत होते हैं। इस शैली में प्रत्येक शब्द को गायक की निपुणता के अनुसार नाना रूपों में उच्चारित किया जाता है। ख़याल गायन स्थायी और अंतरा—इन दो भागों वाली संरचना पर आधारित होता है।

ख़याल दो तरह के होते हैं : विलंबित ख़याल (जिसे बड़ा ख़याल भी कहा जाता है) और द्रुत ख़याल (छोटा ख़याल)। विलंबित ख़याल धीमे-धीमे गाया जाता है जबकि द्रुत ख़याल की गति काफी तेज होती है। विलंबित ख़याल को पंद्रहवीं सदी में जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की की कोशिशों से काफी लोकप्रियता मिली। बाद में सम्राट मोहम्मद शाह 'रंगीले' के दरबारी संगीतकारों सदारंग और अदारंग से भी इसे काफी संरक्षण मिला। इन संगीतकारों ने विलंबित ख़याल में सैंकड़ों रचनाएं संगीतबद्ध की थीं। द्रुत ख़याल का आविष्कार चौदहवीं सदी के आस-पास हजरत अमीर खुसरो ने किया था।

टप्पा

टप्पा ज़्यादातर पंजाबी भाषा में गाया जाता है। इन गीतों की पंक्तियों के बीच-बीच में तानें होती हैं। टप्पा में बोल बहुत कम होते हैं और यह स्थायी व अंतरा—इस दो हिस्सों वाली संरचना पर आधारित होता है। टप्पा का आविष्कार मोहम्मद शाह के शासनकाल में गुलाम नबी शौरी (शौरी मियां) ने किया था। टप्पा सुगम शास्त्रीय संगीत का एक लोकप्रिय रूप है जिसे पंजाब और वाराणसी में खूब गाया जाता है। बंगाल में भी कई जगह खूबसूरत टप्पा सुनने को मिलते हैं। टप्पा आमतौर पर खमाज, काफी, पीलू, भैरवी रागों में गाए जाते हैं।

ग़ज़ल

ग़ज़ल भारत और पाकिस्तान में संगीत की एक लोकप्रिय विधा है। जिस समय ग़ज़ल अपने शैशवकाल में थी, उस समय इसका संगीत वाला पक्ष कमजोर और कविता पाठ वाला पक्ष ज़्यादा प्रमुख था। अब ग़ज़ल को आमतौर पर एक संगीत-रचना माना जाने लगा है जिसमें शब्दों या गीत का भी काफी महत्व होता है। ऐतिहासिक स्रोतों से पता चलता है कि भारत में ग़ज़ल की शुरुआत बारहवीं सदी में हुई और यह विधा फारस से यहां आयी थी। बाद में भारतीय कलाकारों ने ग़ज़ल के उस मूल रूप को अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप बदला। समय के साथ भारतीय मुसलमानों के बीच यह विधा काफी प्रचलित और लोकप्रिय हो गई।

हालांकि ग़ज़ल पहली बार उत्तरी भारत से शुरू हुई थी परंतु जब दक्षिण, खासतौर से गोलकुंडा और बीजापुर में भी उर्दू में साहित्य लिखा जाने लगा तो वहां भी ग़ज़ल को काफी शोहरत मिली।

इस काव्य-रूप के संगीतीय विधा की ओर बढ़ने का सफ़र काफी धीमा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में ग़ज़ल को तवायफों के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। ये तवायफें कला, संस्कृति, नृत्य, संगीत, तहजीब और कमोबेश ऐसी हर चीज में सिद्धस्त मानी जाती थीं जिसे ऊंची संस्कृति कहा जाता है। इन तवायफों या गणिकाओं को उनके संगीत, खासतौर से ग़ज़लसराई की उनकी काबिलियत के लिए काफी वाहवाही मिलती थी। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के शुरू में सामंती समाज एवं उसके मूल्यों का पतन हुआ जिसके साथ तवायफ परंपरा भी खत्म हो गई। इसके बाद ग़ज़ल गायकी में भी सांस्कृतिक बदलाव दिखाई देने लगे। इस बदलाव के बावजूद ग़ज़ल गायकों की लगन में कोई कमी नहीं आई और वह इस परंपरा को दिनों-दिन और समृद्ध करते गए। धीरे-धीरे ग़ज़ल को बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों और हॉलों में भी जगह मिलने लगी। संगीत की एक

विधा के रूप में ग़ज़ल को बीसवीं शताब्दी में रिकार्डिंग तकनीक और सिनेमा के विकास से काफी बढ़ावा मिला। इस तरह ग़ज़ल जन-संचार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई। परंतु इस घटनाक्रम के बाद ग़ज़ल सुनने और देखने वालों को खुश करने के लिए इसमें शब्दों का महत्व कम होने लगा। ग़ज़ल की काव्य संरचना अलग-अलग शेरों पर आधारित होती है जिनके आखिर में एक जैसी लय वाले शब्द होते हैं। पहले शेर को सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। इसे मतला कहा जाता है। मतले से ही पूरी ग़ज़ल का स्वरूप और मूड तय हो जाता है। बाद का हर शेर मतले के साथ जुड़ा होता है। आखिरी शेर भी काफी महत्वपूर्ण होता है जिसे मकता कहा जाता है। इस शेर में शायर का कवि नाम या तख़ल्लुस भी होता है। यह शेर आमतौर पर एक निजी वक्तव्य होता है और बाकी ग़ज़ल के मुकाबले थोड़ा अलग दिखाई देता है। ग़ज़लों में प्रेम, पौराणिक चिंतन, और क्रांतिकारी विचारधारा से लेकर सामाजिक हालात तक तमाम तरह के विषय उठाए गए हैं।

वैसे तो ग़ज़ल के संगीतीय स्वरूप में काफी विविधताएं हैं मगर मोटे तौर पर यह हिंदुस्तानी सुगम शास्त्रीय संगीत के अन्य रूपों से काफी मिलती-जुलती होती है। आधुनिक ग़ज़ल का लयात्मक स्वरूप आमतौर पर रूपक (7 ताल), दादरा (6 ताल) और कहरवा (8 ताल) पर आधारित होता है।

भक्ति-संगीत

क़व्वाली

भारत व पाकिस्तान में प्रचलित क़व्वाली संगीत इस्लामिक गीतों का एक परंपरागत स्वरूप है। क़व्वाली शब्द अरबी भाषा से निकला है जिसका अर्थ होता है 'स्वयं सिद्ध' या 'कथन'। क़व्वाली बुनियादी तौर पर पैगंबर के उपदेशों और ईश्वर की स्तुति पर केंद्रित होती है। यह स्वरूप उत्तरी भारत और पाकिस्तान के आध्यात्मिक एवं कलात्मक जीवन से काफी नज़दीक दिखाई देता है।

क़व्वाली महान सूफ़ी परंपरा का एक अभिन्न अंग रही है। सूफ़ी परंपरा का रहस्यवादी दर्शन ईश्वर के साथ व्यक्तिगत संवाद के ज़रिए निरपेक्ष सत्य और ईश्वरीय प्रेम की प्राप्ति पर केंद्रित होता है। यह हमारे उपमहाद्वीप की एक अनूठी परंपरा है जिसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि केवल भक्ति और आस्था के ज़रिए हम अपने दैहिक रूप में भी ईश्वर तक पहुंच सकते हैं। सूफ़ी परंपरा भक्ति आंदोलन की विभिन्न धाराओं से काफी नज़दीक दिखाई देती है। भक्ति आंदोलन में भी यही आग्रह दिखायी देता है कि 'यहां और अभी, इसी जीवन में' मनुष्य ईश्वर तक पहुंच सकता है। इस्लाम की मुख्यधारा में इस बात पर जोर दिया जाता है कि मौत के बाद या अंतिम फैसले के दिन ही खुदा के पास पहुंचा जा सकता है मगर सूफ़ियों का मानना है कि मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर के साथ संपर्क साध सकता है। अरबी में रहस्यवाद की इस धारा को तसव्वुफ़ कहा जाता है।

भजन

ये बहुत सरल गीत होते हैं जिनमें ईश्वर के विचारों और कर्मों का महिमामंडन किया जाता है। भजनों में ज़िंदगी की सच्चाई को रोज-ब-रोज की भाषा में पेश किया जाता है। मध्यकाल में भक्ति आंदोलन तथा हिंदू पुनर्जागरण आंदोलन के दौरान भजनों को काफी लोकप्रियता मिली। भक्ति आंदोलन का संदेश बहुत सरल था—यदि व्यक्ति ईश्वर के प्रति नि:स्वार्थ प्रेम में डूब जाए तो वह आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। खासतौर से भक्ति आंदोलन और सामान्य रूप से भजनों में जन-जन के आध्यात्मिक सशक्तिकरण का संदेश निहित होता है। भजनों के लिए न तो औपचारिक रस्मों की जरूरत पड़ती है और न ही संस्कृत के ज्ञान की। इसलिए समाज में अपनी हैसियत और स्थिति के बावजूद कामकाजी लोग भी आसानी से भजन गा सकते हैं। भक्ति आंदोलन के कई प्रमुख संतों जैसे कबीर, रविदास, और सूरदास ने अपने भक्ति गीतों को दूर-दूर तक फैला दिया था जबकि वह निचली जाति के लोग थे जिन्हें संस्कृत के ज्ञान से दूर रखा जाता था। भजन को संगीत के नियमों के हिसाब से बयान नहीं किया जा सकता क्योंकि यह संगीत की खास विशिष्टताओं से नहीं बल्कि भक्ति की भावना से परिभाषित होता है। भजनों के व्यापक फलक पर सरल संगीतीय धुनों से लेकर गायन संगीत के उच्चतर संस्करणों तक कई तरह की संगीत शैलियां प्रचलित रही हैं। भजन गायकी में विविध विधाओं का सहारा लिया जाता है। उनमें स्तरीय साहित्य से लेकर धुन जैसे साधारण व निम्नतम काव्य रूपों तक सभी शामिल हैं।

बंगाल का बाउल संगीत

बाउल का मतलब होता है सनकी। यह शब्द वायु (संस्कृत में वायु) से निकला है। वायु का आशय मन की तरंगों से लिया जाता है। जो लोग समाज के स्थापित मूल्य-मान्यताओं या रिवाज़ों का पालन नहीं करते उनके लिए संगीत की यह शाखा मुक्ति का रास्ता देती है। ऐसे लोग खुद अपने प्रेम की भव्यता में बगावत का रास्ता चुनते हैं। उनके मुताबिक 'प्यार में हम हरेक के साथ नाच-गाकर आनंद लेते हैं।' जब बाउलों से उनके दर्शन और सोच के बारे में पूछा जाता है तो वह शब्दों में नहीं बल्कि अपने गीतों के सहारे जवाब देते हैं। वह नाचते-गाते हुए एक जगह से दूसरी जगह भटकते रहते हैं। उनके गीतों में धर्म, जाति और वर्ग के फासलों से ऊपर उठकर मानवमात्र के प्रेम और भाईचारे का संदेश होता है। बहुत सारे बाउल गीतों में लेखकों का नाम भी नहीं होता। वह अपने आप को शहॉज पथ (सहज पथ) का मुसाफिर मानते हैं। बाउल गीतों में खोल (मिट्टी का ढोल), गुबा, झांझ, बांसुरी और इकतारा-दोतारा जैसे वाद्य यंत्रों का काफी इस्तेमाल होता है। शुरुआत में बाउल गीत स्थानीय बंगाली बोली में लिखे जाते थे और वाचिक परंपरा के ज़रिए उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचा दिया जाता था।

शबद

शबद का शाब्दिक अर्थ होता है 'शब्द'। शबद में गुरुओं द्वारा ईश्वर के स्वभाव और जनसाधारण के, खासतौर से सिखों के जीवन अनुभवों के विषय में मौखिक विमर्श प्रस्तुत किया जाता है। शबद का एक आशय गुरबानी से भी लिया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'शिक्षक के बोल।' शबद और गुरबानी दोनों ही सिखों की पवित्र पुस्तक गुरु ग्रंथ साहिब से उपजे हैं। शबद गायन भी भजन गायकी की तरह ही होता है और यह सिखों में काफी लोकप्रिय है। शबद इंसानियत के लिए आध्यात्मिक तरक्की का एक अभिन्न हिस्सा है। इसके लिए व्यक्ति को गहन अध्ययन और साधना करनी पड़ती है तभी वह गुरबानी के महत्व को भी समझ सकता है क्योंकि उसमें ईश्वर के अप्रमित गुणों का बखान किया गया है। ऐतिहासिक रूप से शबद को संगीत की परंपरागत शैलियों में ही पेश किया जाता रहा है। गुरू ग्रंथ साहिब में तो शबद गायन के लिए कई सरल और आडंबरहीन रागों का उल्लेख भी किया गया है। शबदों को शास्त्रीय रागों में तीन ताल और एक ताल आदि तालों में गाया जाता है। शबद गाने वालों को रागी कहा जाता है। एक ज़माने में रागी धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन, संगीत की शिक्षा और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में काफी सक्रिय रहे। अब शबद को हल्के या अर्धशास्त्रीय रूपों में भी पेश किया जाने लगा है।

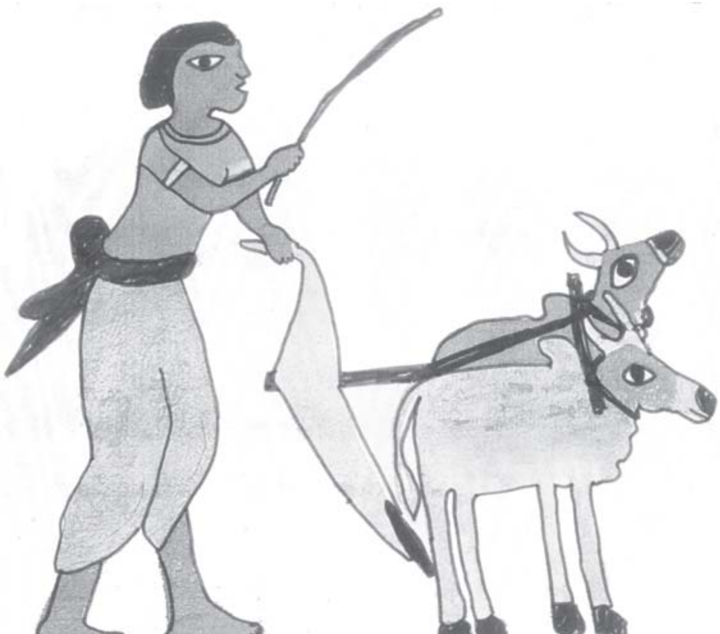

पठन सामग्री-5

कथावाचन थियेटर

हमारे यहां गाथा-गीति, श्लोक, संबोधि गीत, गीत और मंत्र गायन आदि की एक प्राचीन परंपरा रही है। इन विविध विधाओं में कहीं रस्मी ढर्रे का पालन किया जाता है जबकि कहीं उसके बिना ही प्रदर्शन किए जाते हैं। इस परंपरा से थियेटर या रंगमंच के जन्म और विकास पर भी गहरा असर पड़ा है। हमारे देश में तो लोक रंग-मंच की जड़ें प्राचीन काल में ही पड़ चुकी थीं। आदिम गुफाओं में बने भित्ती चित्रों, प्राचीन वैदिक साहित्य और बौद्ध साहित्य में भारतीय लोक रंगमंच का बड़ा सजीव चित्रण मिलता है। कुछ लोग 'नाट्यशास्त्र' को पांचवां वेद भी मानते हैं। इस नाट्यशास्त्र को दूसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर ईसा के बाद दूसरी सदी के बीच की रचना माना जाता है। भरत मुनि द्वारा रचे गए नाट्यशास्त्र में भारतीय लोक रंगमंच की भव्यता का वर्णन मिलता है। इसमें ऐसे संकेत भी मौजूद हैं जिनसे पता चलता है कि लोक रंगमंच ने हमारे शास्त्रीय संस्कृत रंगमंच को भी प्रभावित किया था। इन सब तथ्यों के बावजूद लोक रंगमंच को पहला बड़ा प्रोत्साहन पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में मिला और देश के कई इलाकों में यह रंगमंच एक शक्तिशाली माध्यम बन गया। जाहिर है कि लोक रंगमंच में विभिन्न क्षेत्रों की अलग-अलग भाषाओं का सहारा लिया जाता था। लोक रंगमंच में संस्कृत के महाकाव्यों और पुराणों की कहानियों, ऐतिहासिक किस्सों, प्यार-मोहब्बत की लोक कथाओं और स्थानीय नायकों के शौर्य एवं जीवन वर्णन जैसे तमाम विषय लिए जाते थे। इस रंगमंच में वाचक या सूत्रधार स्वांग, संगीत-नृत्य, कठपुतली, चित्रों और परछाइयों के ज़रिए कहानी सुनाता है। कहानी के पात्रों को दर्शाने के लिए स्वांग का अत्यंत कुशलता के साथ प्रदर्शन किया जाता था। भारतीय लोक रंगमंच को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—धर्मनिरपेक्ष या 'मनोरंजन का रंगमंच' तथा 'धार्मिक रंगमंच'। हालांकि रंगमंच के धार्मिक-पौराणिक रूप प्राचीनकाल में ही विकसित हो चुके थे परंतु मध्य भारत में भक्ति आंदोलन के दौरान उन्हें दोबारा और बल मिला। धर्मनिरपेक्ष लोक रंगमंच स्वांग परंपरा से जन्मा है और यह मुख्य रूप से मनोरंजन पर केंद्रित होता है। ये दोनों स्वरूप एक साथ मौजूद रहे हैं और दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया है। देश के विभिन्न प्रांतों की भाषाओं के रंगमंचीय स्वरूपों में संगीत, नृत्य एवं कविताओं का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी में शास्त्रीय रंगमंच के आयाम भी मौजूद हैं।

कुछ खास इलाकों में प्रचलित रंगमंच के विभिन्न रूपों का यहां संक्षिप्त विवरण दिया गया है :

कुट्टू (चकियार कुट्टू)

चकियार केरल के अभिनय कलाकारों का एक समुदाय है। इस समुदाय को अपनी रंगमंचीय निपुणता और दक्षता के लिए जाना जाता है। इस समुदाय के लोग कुट्टू शैली के रंगमंच का प्रदर्शन करते हैं। प्राचीन काल में चकियार समुदाय के लोग महाकाव्यों और पुराणों जैसे ग्रंथों में दी गई कहानियों का मंचन करते थे। इन कहानियों में नृत्य और अभिनय का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता था। इस शैली में चेहरे की भाव-भंगिमा और आवाज़ों के साथ-साथ हाथ की क्रियाओं के सहारे कहानियों को अर्धनाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। मंचन के दौरान झांझ और तांबे के बने ढोल जैसे संगीत वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। चकियार सूत्रधार कहानी सुनाते हुए विभिन्न पात्रों की भूमिकाओं का खुद मंचन करता है। यही वर्णनात्मक शैली बाद में कूडियट्टम की प्रसिद्ध शैली में विकसित हुई।

पंडवाणी

छत्तीसगढ़ इलाके के आदिवासियों ने कहानी सुनाने की विधा को और मनोरंजक बनाने के लिए पंडवाणी शैली विकसित की है। कहानी सुनाने की यह विधा महाभारत के पांच पांडवों के इर्द-गिर्द घूमती है। पंडवाणी के कलाकारों में एक

सूत्रधार-नायक और एक या दो सहगायक होते हैं जो तबला और हारमोनियम जैसे वाद्य यंत्र बजाते हैं। मुख्य वाचक-गायक अपने हाथ में तंबूरा लिए रहता है जिस पर छोटी-छोटी घंटिया, मोर के पंख आदि लगे होते हैं। उसके दूसरे हाथ में खड़ताल रहती है।

ताल-मड्डेल

ताल-मड्डेल कर्नाटक का एक वर्णनात्मक नाटक होता है। बाद में यही विधा इस क्षेत्र के एक रंग-बिरंगे नृत्य नाटक—यक्षगान—में विकसित हुई। ताल-मड्डेल का नाम ताल यानी एक किस्म की खड़ताल और मड्डेल यानी एक किस्म के ढोल से निकला है। कहानी सुनाने वाले मुख्य वाचक को भागवत और उसके साथियों को अर्थधारी कहा जाता है। यह एक ऐसा नाटक है जिसमें वेशभूषा, मेकअप, नृत्य या अभिनय का प्रयोग नहीं किया जाता बल्कि उसे बैठ-बैठे ही पेश किया जाता है।

बुर्रा कथा

बुर्रा कथा आंध्र प्रदेश का एक लोकप्रिय रंगमंच है। इस शैली में बुर्रा ढोल की ताल पर कहानी आगे बढ़ती है। इस शैली के परंपरागत कलाकार मानते हैं कि वह वाल्मीकि रामायण के लेखक वाल्मीकि के वंशज हैं।

गोंढल

महाराष्ट्र में पौराणिक कहानियों, ऐतिहासिक नायकों की प्रशंसा और लोकनायकों की उपलब्धियों का वर्णन करने के लिए इस रंगमंच शैली का प्रयोग किया जाता है। नाटकीय वाचन की यह शैली विभिन्न देवी-देवताओं को समर्पित एक प्रचलित रिवाज़ का हिस्सा है। गोंढल ने महाराष्ट्र और उसके आस-पास के इलाकों की नाट्य एवं प्रवाचित परंपराओं को गहरे तौर पर प्रभावित किया है।

कीर्तन

यह हमारे देश की अत्यंत लोकप्रिय कथावाचन शैलियों में से एक है। अलग-अलग इलाकों में इसे कलाक्षेपम, कथा, हरिकथा आदि नामों से भी संबोधित किया जाता है। कीर्ता का मतलब होता है प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा। इसी शब्द से जन्मे कीर्तन का अर्थ होता है देवी-देवताओं की श्रद्धा में नाचना-गाना और उनका महिमामंडन करना।

पोवाडा

महाराष्ट्र में लोकनायकों के महिमामंडन के लिए पोवाडा शैली का इस्तेमाल होता है। मराठी में उपलब्ध पहला पोवाडा शिवाजी द्वारा अपने शत्रु अफ़ज़ल ख़ान की हत्या पर आधारित था। महाराष्ट्र के लोक गायकों—गोंढालियों और शाहिरों—ने पोवाडा गायन की इस शैली को जीवित रखा है। पोवाडा में बहुत ऊंची आवाज़ में अत्यंत नाटकीय भाव-भंगिमाओं के साथ गाया जाता है।

चित्र कलाकार

प्राचीन भारत में चित्र कलाकार को मंखा कहा जाता था और चित्रों के ज़रिए कथा सुनाने की यह विधा मंखा विधा कहलाती थी। यह कला शैली ई.पू. छठी सदी के आस-पास शुरू हुई थी।

गरुड़

गुजरात के गरुड़ समुदाय के लोग रंग-बिरंगी तस्वीरों के ज़रिए कहानी कहते हैं। इस शैली में एक बहुत लंबे कागज पर उपर-नीचे तस्वीरें बनी होती हैं और उन्हें एक बांस पर लपेट कर रखा जाता है। जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है यह बंडल खुलने लगता है और एक के बाद एक नए-नए चित्र सामने आते जाते हैं। प्रत्येक दो चित्रों के बीच एक गाढ़ी काली लकीर खींची होती है।

ओजा-पाली

यह असम का एक कला रूप है जिसमें कहानी कहने और उसकी दर्शनीयता बढ़ाने के लिए बहुत सारी नाट्य तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता है। ओजा-पाली को असम की सरीसृप देवी मनसा की पूजा के साथ जोड़कर देखा जाता है। इस विधा के कलाकार कई दिनों में अपनी कहानी पूरी करते हैं। उनकी कहानी तीन खंडों—देव खंड, बनिया खंड और भटियाली खंड—में बंटी होती है। मुख्य वाचक-गायक ओजा कहलाता है और जो सदस्य कोरस गाते हैं उन्हें पाली कहा जाता है।

विल्लू पट्टू

विल्लू पट्टू का शाब्दिक अर्थ होता है धनुष गीत। कथावाचन की यह विधा पंद्रहवीं शताब्दी के आस-पास तमिलनाडु में विकसित हुई थी। इसमें धनुषाकार संगीत वाद्य यंत्र का प्रयोग किया जाता है। धनुष गीत में आमतौर पर आठ सदस्य होते हैं जो मुख्य गायक-वाचक के साथ कोरस गाते रहते हैं। इस शैली में रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियां सुनाई जाती हैं।

दस कथिया और चैती घोड़ा

दस कथिया उड़ीसा के कई कथावाचन रूपों में एक है। इस विधा में दो कलाकार होते हैं। मुख्य कलाकार गायक कहलाता है जो लकड़ी के दो आयताकार टुकड़ों से अलग-अलग आवाज़ें पैदा करते हुए कहानी सुनाता है। दूसरा कलाकार पलिया कहलाता है और वह मुख्य कलाकार की मदद करता है। इस विधा में आमतौर पर रामायण, महाभारत, पुराणों और लोक साहित्य की कहानियों का मंचन किया जाता है। ये कलाकार समकालीन परिस्थितियों पर भी कटाक्ष और टिप्पणियां करते हैं।

उड़ीसा में विकसित हुई चैती घोड़ा विधा में कलाकारों का एक दल कहानी सुनाता है। इनमें से दो कलाकार ढोल और माहुरी बजाते रहते हैं और तीन अन्य पात्र होते हैं। बांस और कपड़ों से एक नकली घोड़ा बनाया जाता है और नृत्य कलाकार इस घोड़े के खोखले शरीर में घुसकर नाचते हैं जबकि मुख्य गायक और सहगायक पौराणिक कहानी सुनाते रहते हैं।

रासलीला

रासलीला एक व्यापक श्रेणी है। इसके दायरे में कई तरह के नृत्य और नृत्य-नाटिकाएं आती हैं। कृष्ण के जीवन पर आधारित यह रास लीला पूरे देश में की जाती है। कृष्ण के इर्द-गिर्द केंद्रित रंगमंच वेदों से भी पुराना माना जाता है। उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल के भारतीय नाटकों में संवादों को संस्कृत की बजाय प्राकृत (संस्कृत का ही एक अपभ्रंश) भाषा में लिखा जाता था। रास लीला में रास का आशय पूर्णिमा की रात को यमुना नदी के किनारे युवा कृष्ण और गोपियों के आनंदपूर्ण नृत्य से होता है। ये गोपियां बृज के ग्वालों की पत्नियां और प्रेमिकाएं होती थीं। लीला शब्द का मतलब होता है नाटक या प्रदर्शन। इसका एक अर्थ ईश्वर का मनुष्यों तथा अन्य भौतिक जीवों के साथ आनंदपूर्ण संबंध भी माना जाता है। कृष्ण से संबंधित कहानियों में रास लीला की एक विशेष रहस्यात्मक और रस्मी अहमियत होती है।

प्राचीन काल से रास तथा अन्य लीलाएं देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग रूप में की जाती रही हैं। इनमें वृंदावन की रास लीला काफी लोकप्रिय है। यह पूरे देश में फैले भक्ति आंदोलन के प्रभाव स्वरूप सोलहवीं सदी में विकसित हुई थी।

रास लीला में कृष्ण के प्रारंभिक जीवन की घटनाओं और उनके संपर्क में आने वाली सखियों और युवतियों के चमत्कारिक अनुभवों का मंचन किया जाता है। मंचन की शुरुआत कृष्ण और राधा की झांकी से होती है। इस झांकी में कृष्ण के दाईं तरफ सखियां बैठी होती हैं। गायक और संगीतकार राधा और कृष्ण के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं। इसके बाद नित्य रस नामक नृत्यों की श्रृंखला चलती है। यह कार्यक्रम 2-3 घंटे तक चलता है और आधी रात में जाकर खत्म होता है।

कृष्ण अट्टम

केरल में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में कृष्ण के जीवन पर आधारित एक रंग-बिरंगी नाट्य विधा सामने आई। कृष्ण अट्टम के नाम से लोकप्रिय हुई इस विधा ने कुडियट्टम रंगमंच और कथकली पर गहरा प्रभाव डाला। कृष्ण अट्टम में आठ रातों के दौरान आठ अलग-अलग नाटक पेश किए जाते हैं। इन नाटकों के ज़रिए भगवान कृष्ण की पूरी कहानी कही जाती है।

कला

सहयाद्री पर्वत शृंखला और अरब सागर के बीच स्थित गोमांतक क्षेत्र को दुनिया के सबसे सुंदर और रमणीय स्थानों में माना जाता है। यह जगह अपनी नाट्य कलाओं और संगीत के लिए भी प्रसिद्ध है। यहां कृष्ण से जुड़ी कहानियों पर विभिन्न नाट्य रूप सदियों से प्रचलित रहे हैं। अपने प्रारंभिक रंगमंचीय रूप में कला ने ही कृष्ण केंद्रित रंगमंच के उत्तरवर्ती स्वरूपों की आधारशिला रखी थी। फलस्वरूप, बाद में कला के दशावतार कला, गोपाल कला और ग्वालन कला जैसे कई रूप सामने आए।

अंकिया नट

अंकिया नट का उदय सोलहवीं सदी में असम में हुआ। यह घटनाक्रम नव-वैष्णव आंदोलन की उपज था। एक अंक वाले इस नाटक में अपने क्षेत्र की शास्त्रीय एवं लोक परंपराओं का बढ़िया मिश्रण मिलता है। यह नाट्य रूप भी कृष्ण से संबंधित दन्तकथाओं की भव्यता पर आधारित है।

गीत गोविंद

कृष्ण रंगमंच की परंपरा में प्रसिद्ध कवि जयदेव की रचना गीत गोविंद का स्थान बहुत ऊंचा है। बेजोड़ काव्यात्मक सौंदर्य से लैस इस ओपेरा या गीति-नाट्य का कृष्ण रंगमंच परंपरा में अपना एक अलग ही स्थान रहा है। बारहवीं शताब्दी के अंत में लिखे गए गीत गोविंद ने 1600 से लेकर 1850 ईस्वी के बीच 35 नाट्य कलाकारों को गहरे तौर पर प्रभावित किया और उन्होंने 100 से अधिक ऐतिहासिक नाटकों की रचना कर डाली। विद्यापति और चंडीदास के भक्ति गीतों में गीत गोविंद का असर साफ देखा जा सकता है। उड़ीसा, मिथिला (उत्तरी बिहार), बंगाल, असम, बुंदेलखंड और नेपाल में गीत गोविंद का जो रूप प्रचलित है उसमें दो या उससे अधिक कलाकार संवाद बोलते हैं। संवादों के साथ-साथ गीत भी चलते रहते हैं। ओड़िसी और भरतनाट्यम जैसी अत्यंत प्रतिष्ठित शास्त्रीय नृत्य शैलियों में गीत गोविंद के समृद्ध काव्य भंडार का आज भी खूब प्रयोग किया जाता है।

रामलीला

रामायण के नायक राम को भगवान विष्णु का अवतार माना जाता है। राम के जीवन को देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग विधाओं में प्रस्तुत किया जाता है। उत्तरी भारत में राम के जीवन का मंचन रामलीला के ज़रिए होता है। रामलीला का आयोजन दशहरा के त्यौहार से ठीक पहले कई दिन तक चलता है। उत्तरी भारत की रामलीला तुलसीदास द्वारा लिखे गए रामचरित मानस पर आधारित है। रामचरित मानस अवधी भाषा का एक महान काव्य माना जाता है। रामलीला के मंचन में रामचरित मानस के श्लोक भी पढ़े जाते हैं और साथ ही आम लोगों की भाषा में गीत भी गाए जाते हैं। इसकी कहानी नाटक और उत्सवपूर्ण आडंबर के साथ ही आगे बढ़ती है। कहा जाता है कि 1624 में तुलसीदास की मृत्यु के बाद उनके एक शिष्य मेघा भगत ने पहली बार रामलीला का मंचन किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में बनारस राजघराने की ओर से रामनगर में बड़े पैमाने पर रामलीला का आयोजन किया जाने लगा।

रामलीला की कहानी मुख्य रूप से राम, उनकी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के जीवन पर केंद्रित है। रामलीला का समापन विजय दशमी यानी दशहरा के दिन होता है। माना जाता है कि विजयदशमी के दिन ही राम ने रावण का वध किया था। अंतिम दिन के मंचन में मंच पर खड़े कलाकार जलते हुए तीरों से रावण और उसके भाई के

पुतलों पर वार करते हैं और ये पुतले जलने लगते हैं। इसके बाद रामलीला के सभी कलाकार जलते हुए पुतलों को देखते हुए वहां से गुजर जाते हैं।

ख़याल

यह राजस्थान की एक लोकप्रिय लोक कला शैली है। हालांकि ख़याल का जन्म कहां से हुआ, इस पर भारी बहस रही है मगर इस बात पर व्यापक सहमति है कि आगरा ख़याल का एक महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। ख़याल की विभिन्न शैलियां रही हैं। इन शैलियों को शहर के नाम, अभिनय की शैली, समुदाय या लेखक आदि के नाम से जाना जाता है, जैसे जयपुरी ख़याल, अभिनय ख़याल, गढस्पा ख़याल और अलीबख्श ख़याल। हर ख़याल की अपनी कुछ बारीक खासियतें होती हैं।

ख़याल के प्रस्तुतिकरण की अभिनय परिधि दो हिस्सों में बंटी होती है। मंच का एक हिस्सा तीन या चार फुट ऊंचा होता है। दूसरे हिस्से में सफेद चादर बिछी होती है और इसे निचला मंच कहा जाता है। ख़याल की कुछ शैलियों में लघु नामक एक और निचला मंच भी बनाया जाता है। दूसरी संरचना बारह से पच्चीस फुट ऊंची होती है और यह मंच के पीछे बनाई जाती है। इस कामचलाऊ 'बालकोनी' में सीढ़ी के सहारे पहुंचा जा सकता है। मंच के चार कोनों में केले के पेड़ के तने रखे होते हैं और उनके ऊपर रंग-बिरंगी झंडियां लगायी जाती हैं।

हालांकि ख़याल एक उत्सवपूर्ण माहौल की रचना कर देता है परंतु इसका प्रदर्शन भी धार्मिक संकेतों से मुक्त नहीं होता। मंच की स्थापना के समय एक अनुष्ठानिक स्तंभ खड़ा किया जाता है और ख़याल का प्रस्तुतिकरण देवताओं की पूजा-अर्चना के साथ होता है। ख़याल में पौराणिक, ऐतिहासिक या अत्यंत रचनात्मक किस्म के नाटक पेश किए जाते हैं जिनमें रोमांस, बहादुरी भरे गीतों और मानवीय भावनाओं की भरमार होती है। ख़याल में नगाड़े, खड़ताल और हारमोनियम के ज़रिए आनंदपूर्ण संगीत पैदा होता है।

इस मंचन में सभी पात्र पुरुष होते हैं और वह उस्ताद या निदेशक के पीछे चलते हुए मंच पर आते हैं। प्रत्येक प्रस्तुति में जोकर एक अहम पात्र होता है।

नक़ल

यह एक विशुद्ध अवास्तविक प्रदर्शन होता है। इसमें कलाकारों के मुखिया को ख़लीफ़ा कहा जाता है। वह अपनी हाज़िरजवाबी और उछल-कूद के ज़रिए ही प्रदर्शन की क्रियाओं और गति को तय करता है। नक़ल इस लिहाज से एक मजेदार विधा मानी जाती है कि इसमें दर्शकों पर भी कटाक्ष किया जाता है। इस विधा में भी सभी कलाकार पुरुष होते हैं। पंजाब और कश्मीर में यह विधा काफी मशहूर है और वहां इसे नक्कौल या नक्काल भी कहा जाता है।

स्वांग

स्वांग को संगीत भी कहा जाता है। इसका जन्म अठारहवीं सदी के आखिरी दौर से माना जाता है। हरियाणा और पंजाब में लोकप्रिय यह कला रूप नृत्य गीत और अर्ध-ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित होता है। स्वांग का त्यौहारों और पारिवारिक उत्सव के मौकों पर मंचन किया जाता है। इस नाट्य विधा में भी सभी कलाकार पुरुष होते हैं और यह गांव के किसी खुले स्थान पर या मेज़बान के घर में मंचित किया जाता है। यद्यपि इसमें कलाकारों की वेशभूषा साधारण होती है लेकिन पगड़ी और दाढ़ी-मूंछ को आकर्षक बनाने पर खासतौर से ध्यान दिया जाता है। इस विधा में गीत-संगीत के मुकाबले संवादों का ज़्यादा महत्व होता है।

नौटंकी

नौटंकी स्वांग का ही एक रूप है। माना जाता है कि इसका नाम शहजादी नौटंकी नामक एक लोकप्रिय नाटक के आधार पर पड़ा था। जनश्रुति के अनुसार पंजाब में नौटंकी नाम की एक राजकुमारी थी जिसके सौंदर्य की दुनिया भर में धूम थी। फूल सिंह नाम का नौजवान नौटंकी से शादी करना चाहता था लेकिन राजकुमारी की भाभी बार-बार उसे झिड़कती

रहती थी। इस अपमान से तैश में आकर फूल सिंह ने अपने माली की मदद से राजकुमारी नौटंकी से विवाह कर लिया और वे साथ-साथ रहने लगे।

भले ही माना जाता है कि नौटंकी का जन्म पंजाब में हुआ है लेकिन दिलचस्प बात यह है कि इस लोक रंगमंच शैली में पंजाबी भाषा का नामोनिशान दिखाई नहीं देता। यह शैली हिंदुस्तानी में मंचित की जाती है। रंगमंचीय विधा के रूप में नौटंकी बुनियादी तौर पर निम्न और मध्यवर्ग के मनोरंजन का साधन थी और किसी दरबारी संरक्षण के बिना सदियों तक कायम रही।

नौटंकी का विषय या कहानी आमतौर पर किसी ऐतिहासिक, मिथक या लोक कथा पर आधारित होती है और उन्हें 'भव्यतापूर्ण महाकाव्यात्मक शैली में सुनाया या अभिनीत किया जाता है।' नगाड़ों के साथ गायन नौटंकी को एक अलग विधा की पहचान देता है। इसमें दो आकार के नगाड़ों का इस्तेमाल किया जाता है। दोनों की आवाज और लय में उतार-चढ़ाव के लिए ढोल वादकों के अपने तरीके होते हैं। बड़े नगाड़े की आवाज को उसके सिरे पर गीला कपड़ा बांध कर नियंत्रित किया जाता है जबकि छोटे नगाड़े के सिरे को गरम कोयलों पर तपाया जाता है। इस शैली में इस्तेमाल होने वाले अन्य वाद्य यंत्रों में ढोलक, हारमोनियम, झांझ और सारंगी भी शामिल हैं। हाल के सालों में एक बदलाव यह आया है कि इस शैली में लोक संगीत की प्रमुखता तो बनी हुई है लेकिन नौटंकी के गीत ज्यादातर फिल्मी संगीत पर आधारित होते चले जा रहे हैं।

मंच प्रबंधक को रंगा कहा जाता है जिसकी देख-रेख में 10-12 अभिनेता प्रस्तुति देते हैं। ये प्रस्तुतियां आमतौर पर नैतिकतावादी किस्म की होती हैं जिनके बीच में यदा-कदा हास्यप्रद दृश्य और दिलचस्प संवाद होते हैं जिनसे नाटक की रफ्तार घटती-बढ़ती जाती है।

हाथरस और कानपुर की नौटंकी दो भिन्न शैलियों के रूप में अपनी स्पष्ट जगह बना चुके हैं। हाथरस शैली पुरानी हैं। उन्नीसवीं सदी में इस शैली के तहत अखाड़े (प्रशिक्षण केंद्र) होते थे जहां खलीफा ही सबसे बड़ा नेता माना जाता था। इस शैली में गाने की आवाज बहुत ऊंची और शैली बहुत समृद्ध होती थी। बाद में खलीफाओं के मनमाने तौर-तरीकों के कारण कलाकारों ने बगावत का रास्ता अपनाया और नौटंकी का कानपुर केंद्र अस्तित्व में आ गया। कानपुर शैली की रूपरेखा श्रीकृष्ण पहलवान ने विकसित की थी। इसमें आसान गीतों का चयन किया जाता है और मंच पर बड़ा रंगीन दृश्य रचा जाता है।

गीत के पैटर्न को तीन हिस्सों में बांटा जाता है : दोहा—जिसे बिना किसी थाप के मुक्त रूप से गाया जाता है चौबोला—जो मुख्य काव्य होता है : और दौड़ या चलती या उड़ान—जिसे बहुत तेजी से गाया जाता है लेकिन जो आखिर में बहुत धीमी हो जाती है। कई बार तीन चौबोलों के बीच कड़े के इस्तेमाल जैसे बदलाव भी किए जाते हैं। इनके अलावा बहरातबील, सौराठा, आल्हा, लावणी, झूलणा, दादरा, गजल, कव्वाली और हाल में फिल्मी धुनें भी नौटंकी में इस्तेमाल होने लगी हैं। नौटंकी को हिंदुस्तानी में लिखा जाता है और उसमें संबंधित इलाके की बोली का खूब इस्तेमाल किया जाता है। ब्रज की नौटंकियां मुख्य रूप से काव्य आधारित होती हैं जबकि कानपुर की नौटंकी में उर्दू शायरी और बहुत सारे गद्यात्मक संवादों का इस्तेमाल किया जाता है। नौटंकी में कथाओं के चयन और कथानक की क्रमवार प्रस्तुति, दोनों के लिहाज से संस्कृत रंगमंच के कुछ आयाम दिखाई देते हैं। मंचन की शैली में पारसी रंगमंच का असर साफ दिखाई देता है। यह असर कानपुर की नौटंकी में तो खासतौर से देखा गया है।

ज्यादातर नौटंकी कलाकारों के परिवार पीढ़ियों से इस पेशे में सक्रिय हैं। इनमें से ज्यादातर निरक्षर या बहुत कम पढ़े-लिखे हैं। अब समकालीन विषयों के हिसाब से नौटंकी के औपचारिक तत्वों—नृत्य, संगीत, सुधार की गुंजाइश—की व्यापक पड़ताल की जा रही है। बहुत सारे परंपरागत रंगमंचीय रूपों के विपरीत नौटंकी शुरू से ही एक खुली और धर्मनिरपेक्ष नाटकीय विधा रही है। हाल के समय में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा लिखित 'बकरी' को सबसे सफल

नौटंकी ड्रामों में शुमार किया जाता है। बकरी एक तीखा सामाजिक व्यंग्य है और इसे हिंदी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में सैकड़ों बार खेला जा चुका है।

लावणी काव्य और तुर्रा-कलगी अखाड़ा

शास्त्रार्थ, समस्या पूर्ति और संगीतमय ढंग से सवाल-जवाब की प्रथा हमारे यहां प्राचीन काल से रही है। ये सभी तत्व तुर्रा-कलगी परंपरा में दिखाई देते हैं। तुर्रा-कलगी के प्रदर्शन में दो परस्पर प्रतिद्वंद्वी समूह एक दूसरे पर सवाल उछालते हैं और उनका जवाब देते हैं। ढोलक और चंग ढोल की थाप के साथ ये सवाल एक-दूसरे के साथ लावणी या ख़याल शैली में पूछे जाते हैं। तुर्रा शैव पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जबकि कलगी शक्ति की श्रेष्ठता का प्रतीक है। दोनों समूह अखाड़ों के रूप में संगठित होते हैं और पहचान के लिए उनके रंग अलग-अलग होते हैं। दोनों समूहों के ढोल पर समूह का चिन्ह (कलगी या तुर्रा) बना होता है। दोनों समूहों के बीच होने वाली इस मुठभेड़ को दंगल कहा जाता है।

इस शैली का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था और अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में यह कविता का एक महत्वपूर्ण लोकप्रिय स्रोत थी। यह प्रतियोगिता शिव एवं शक्ति, पुरुष एवं प्रकृति, ब्रह्म एवं माया, अथवा निर्गुण एवं सगुण जैसी युग्म अवधारणाओं पर केंद्रित होती है। हमारे सामने ऐसे असंख्य उदाहरण मौजूद हैं जब साधारण संवाद से शुरू हुई यह बहस गाली-गलौज और मारपीट पर जाकर खत्म होती है।

तुर्रा-कलगी टोलियां और लावणी अठारहवीं सदी में संभवत: उस समय महाराष्ट्र से उत्तर की तरफ आई होंगी जब ये कलाकार मराठा सेना के साथ-साथ चला करते थे। इसके बाद तुर्रा-कलगी ने मध्य प्रदेश में अपनी जड़ें जमाईं जहां यह अभी भी प्रचलित है। इसके बाद अंतत: यह लोक कला शैली उत्तरी भारत में भी पहुंच गई।

राजस्थान के चित्तौड़ और घोसुंडा में यह शैली ख़याल लोक रंगमंच के साथ जुड़ गई और उसे तुर्रा-कलगी ख़याल कहा जाने लगा। इस बदलाव के फलस्वरूप यह एक अलग ही कला शैली बन गई और इस क्षेत्र की वाचिक परंपरा में मौजूद कहानियों को लोगों के सामने प्रस्तुत करने का एक अहम साधन बन गई।

नाथ योगी और वाचिक जनश्रुतियां

नाथ योगी संन्यासी पंजाब के गुरु गोरखनाथ के अनुयायी थे। सशरीर अवतार लेने वाले दैवी नायकों पर आधारित लीला के विपरीत नाथ योगी संन्यासी संन्यास के ज़रिए ईश्वर से मिलन, जादुई करामातों और तांत्रिक रहस्यवाद पर ज़्यादा जोर देते थे। नाथ योगियों को पंथ में शामिल करने के समय उनके कान के निचले हिस्से को छेदकर उसमें एक मुद्रा डाल दी जाती थी जिसके कारण उन्हें कनफटा साधु भी कहा जाने लगा।

गोरख बानी के नाम से मशहूर अपने लोकप्रिय उपदेशों के माध्यम से नाथ योगी उत्तरी और मध्य भारत के आम लोगों में तांत्रिक विश्वास और शब्द बिखेरते रहे हैं। नाथ पंथ के योगी न केवल गायकों, संगीतकारों और लोकप्रिय कलाकारों के रूप में काम करते थे बल्कि उन्होंने चिकित्सक, जादूगर और तंत्र-मंत्र के माहिर के तौर पर भी अच्छी-खासी पहचान बना ली थी। इस पंथ के योगी एक विशाल भौगोलिक दायरे में घूमते थे। उनके महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान और आश्रम बलूचिस्तान में हिंगलाज, गुजरात में दीनोधर, और पंजाब में टीला से लेकर नेपाल, बंगाल और बंबई तक फैले हुए थे।

इंद्रसभा

वाजिद अली शाह के युग में आगा हसन अमानत द्वारा लिखा गया इंद्रसभा नामक नाटक पहली बार लखनऊ में पेश किया गया था। कहते हैं कि इस नाटक की पहली प्रस्तुति में खुद नवाब वाजिद अली शाह ने इंद्र की केंद्रीय भूमिका निभाई थी।

इंद्रसभा ने उत्तरी भारत में लोकप्रिय नाट्य विधा के नए मानक निर्धारित कर दिए। इस नाटक में कथानक, मीटर और

भाषा के मामले में हिंदू और मुस्लिम, दोनों संस्कृतियों के तत्व एक-दूसरे में समाहित हैं। यह नाटक इंद्र के दरबार को केंद्र में रखकर खेला जाता है। इंद्रसभा में देवताओं का राजा इंद्र परियों से घिरा रहता है। उसकी परियों में से एक सब्ज़ परी ज़मीन के एक राजकुमार, गुलफाम से प्यार कर बैठती है। इन प्रेमियों के प्रति सहानुभूति के चलते काला देव एक दिन गुलफ़ाम को इंद्र के स्वर्ग में ले आता है। नियमों के इस भीषण उल्लंघन के आरोप में इंद्र गुलफाम को बाहर फिंकवा देता है। इस पर सब्ज़ परी बड़े मार्मिक गीत गाती है और एक जोगन की तरह कपड़े पहन लेती है। वह विनती करती है कि उसके प्रेमी को स्वतंत्र कर दिया जाए। दोनों प्रेमियों की व्यथा को देखते हुए इंद्र आखिरकार उन्हें आशीर्वाद देता है और दोनों प्रेमी फिर एक दूसरे से मिल जाते हैं।

इंद्रसभा एक ऐसी कृति है जिसमें कई विधाओं का सहारा लिया गया है। इसमें कथावाचन भी है, कविता भी है, नृत्य और संगीत भी है। और इन सबके साथ इंद्र के स्वर्गिक दरबार का एक भव्य और बेमिसाल नजारा है। परियों और देवों तथा अप्सराओं से घिरे इंद्र और उसके दरबार की विलासिता को फारस की दास्तान परंपरा के सहारे इंद्रसभा का रूप दिया गया है। असल में इंद्रसभा की कई थीम उर्दू के रूमानी किस्से-कहानियों से काफी प्रभावित रही है। इनमें मीर हसन की शहर-उल-बयां और गुलज़ार-ए-नसीम जैसी कृतियां भी शामिल हैं।

इंद्रसभा नाटक थोड़े से समय में पूरे देश में मशहूर हो गया था और देश के कोने-कोने में इसका मंचन हुआ था। इस नाटक का लिखित रूप भी एक जबरदस्त सफलता साबित हुआ। इसका पहला संस्करण 1853 में छपा था जो सत्तर के दशक तक आते-आते प्रकाशन की दुनिया में शीर्ष पर पहुंच चुका था। उत्तर प्रदेश और बिहार के मुख्य शहरों के अलावा लाहौर, बंबई, कलकत्ता और मद्रास से इस नाटक के 33 संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इस नाटक की प्रसिद्धि जल्दी ही यूरोप तक भी जा पहुंची और 1892 में फ्रेड्रिक रोज़ेन ने इस नाटक का जर्मन भाषा में भी अनुवाद कर डाला।

हाल ही में उभर रहे भारतीय-मुस्लिम थियेटर का व्यापक प्रभाव सवाक सिनेमा के उदय तक बना रहा। रंगमंच की दुनिया के बड़े-बड़े लोग वेशभूषा, साज-सज्जा, भाषा, संगीत और कहानी के मामले में अभिजात्य इस्लामिक परंपराओं का अनुसरण करने लगे थे। इंद्रसभा ने संगीत, नृत्य और कविता की दरबारी शैलियों को लोकप्रियता के नए धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया।

शहरी थियेटर और पारसी स्टेज

दरबारों की सामाजिक हैसियत खत्म हो जाने के बाद नाट्य गतिविधियों को जिंदा रखने के साधन 'शहरों में विकसित हो रहे मनोरंजन के आर्थिक नेटवर्कों' के इर्द-गिर्द केंद्रित होने लगे। इंद्रसभा की कामयाबी से उत्साहित भारतीय-मुस्लिम थियेटर की परंपरा का सहारा लेते हुए 1850 के आसपास पारसी थियेटर अस्तित्व में आया। पारसी थियेटर को पहला बड़ा उछाल बंबई के पारसियों द्वारा संगठित किए गए कुछ शौकिया समूहों से मिला। इनमें एल्फिन्स्टन क्लब जैसी संस्थाएं प्रमुख थीं जो अंग्रेजी एवं भारतीय भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों का मंचन करती थीं। कुछ ही समय के भीतर थियेटर के शौकीन पारसी व्यवसायियों ने अपनी पेशेवर कंपनियां शुरू कर दीं। पारसी रंगमंच पर काम करने वाले बहुत सारे कलाकार भी पारसी थे। इन कंपनियों में इन पारसी कलाकारों की भी हिस्सेदारी रहती थी। बाद में ऐसे कई कलाकारों ने अपनी अलग कंपनियां खोल लीं। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध फ़ारसी कलाकार खुर्शेदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में विक्टोरिया थियेट्रीकल कंपनी खोली जबकि अपनी अति-नाटकीय अभिनय क्षमता के कारण 'भारत के इर्विंग' नाम से मशहूर हो चुके ख्वासजी खटाऊ ने 1877 में एल्फ्रेड थियेट्रीकल कंपनी की नींव डाली। समूचे उपमहाद्वीप में दर्जन भर से भी ज़्यादा ऐसी नाटक कंपनियां खुल गईं जिनके नाम में 'दि बांबे' शब्द जुड़े होते थे। यह उभरते लोकप्रिय शहरी थियेटर की बढ़ती दावेदारी का एक पुख्ता सबूत था। बहुत सारे मुसलमान, एंग्लो-इंडियन और कई जाने-माने हिंदू इन कंपनियों में शामिल हुए हालांकि इनमें से ज़्यादातर कंपनियों की बागडोर कुल मिलाकर पारसियों के हाथ में ही थी।

महज कुछ सालों के भीतर पारसी थियेटर की मांग पूरे भारत में फैल गई। कुछ कपंनियां तो बंबई, लाहौर, कराची, पेशावर, दिल्ली, गंगा के मैदानी इलाकों, कलकत्ता और मद्रास के बीच घूम-घूम कर नाटक करने लगीं। बल्लीवाला

जैसी कुछ कंपनियां तो रंगून, सिंगापुर और लंदन तक अपनी कला के जौहर दिखाने जा पहुंचीं। आधुनिक नाटक, रंगमंचीय व्यवहार और लोक शैलियों के प्रदर्शन पर पारसी थियेटर का गहरा असर पड़ा। इस शैली ने उभरते मराठी और गुजराती रंगमंच तथा हिंदी, बंगला, तमिल एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के नए नाटकों पर भी काफी असर डाला।

बाद में पारसी कंपनियां प्रोसीनियम शैली के अर्द्ध-चक्राकार मंच का सहारा लेने लगीं। इस शैली के मंच की पृष्ठभूमि में पर्दे पश्चिमी फर्नीचर तथा अन्य सहायक उपकरण और साधन रखे जाते थे। विशेष प्रभाव यानी स्पेशल इफैक्ट्स उत्पन्न करने के लिए तरह-तरह की पोशाकों और यांत्रिक उपकरणों का भी इस्तेमाल किया जाने लगा। यह पारसी थियेटर पर यूरोपीय थियेटर की भौतिक संस्कृति के प्रभाव का संकेत था। यहां तक कि 'तूफान, उफनते समुद्र एवं नदियों, किलों, स्टीमरों और हवाई गतियों के आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए' यूरोप से बाकायदा पेशेवर कलाकारों और तकनीशियनों को बुलाया जाने लगा। यूरोपीय थियेटर ने पारसी थियेटर की विज्ञापन कला और समय के चुनाव को भी प्रभावित किया। यूरोपीय तकनीक और व्यावसायिक तौर-तरीकों को अपनाना अठारहवीं शताब्दी में पारसियों के एकीकरण की प्रक्रिया का एक अहम पहलू रहा। अपनी-अपनी आर्थिक संपन्नता और सामाजिक ऊंच-नीच के भारी पूर्वाग्रहों से आजाद पारसी समुदाय के कलाकार और थियेटर मालिक हिंदू और मुस्लिम कलाकारों और थियेटर मालिकों से कोसों आगे पहुंच गए।

पारसी थियेटर में के. एन. कवराजी, ई. जे. खोरी और एन. आर.- रनीना जैसे कई शुरुआती पटकथा लेखक खुद पारसी थे और अपनी मातृभाषा गुजराती में लिखते थे। मगर 1870 के दशक तक आते-आते ज़्यादातर बड़ी कंपनियां मुस्लिम मुंशियों को पक्की नौकरी पर रखने लगी थीं। इसके बाद तो उर्दू ही पारसी थियेटर की प्रमुख भाषा बन गई। दिल्ली की कुछ जानी-मानी कंपनियों ने कई ऐसे हिंदू लेखकों को भी नौकरी पर रख लिया जो उर्दू में भी लिख सकते थे। नतीजतन, राजा हरिशचंद्र, गोपीचंद, रामायण, महाभारत, वीर अभिमन्यु, प्रहलाद जैसे हिंदी नाटक भी पारसी थियेटर में दिखाए जाने लगे। प्रख्यात उर्दू पटकथा लेखक आग़ा हश्र कश्मीरी ने पारसी थियेटर के लिए शेक्सपीयर की कई ट्रेजडीज़ दोबारा लिखीं।

उत्तरी भारत में उर्दू और हिंदी, दोनों ही पारसी नाटकों का एक अभिन्न हिस्सा बन गईं क्योंकि इन दोनों भाषाओं को समझने वाले दर्शकों की संख्या सबसे ज़्यादा थी। परंतु गैर-हिंदी भाषी इलाकों में होने वाले निर्माण भी गुजराती, मराठी और बंगाली जैसी क्षेत्रीय भाषाओं से मदद लेने लगे थे। खासतौर से हास्य-विनोदपूर्ण नाटिकाओं, चुटकुले मध्यांतरों और गानों के लिए इन भाषाओं का काफी इस्तेमाल होने लगा। पारसी थियेटर रूप-रंग के लिहाज से ठेठ भारतीय परिघटना था और उसमें भारतीय विषयवस्तु के साथ-साथ भारत के गीत-संगीत और नृत्य को भी काफी जगह मिलती थी। भारतीय नाट्य परंपरा और मौजूदा लोक नाटकों ने भी पारसी थियेटर पर गहरा असर डाला जिससे देशी थियेटर पर एक विपरीत प्रभाव भी पड़ा। पारसी थियेटर में हिंदू महाकाव्यों के नायक-नायिकाओं के साथ-साथ शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूं, बेनज़ीर-बद्रे-ए-मुनीर और ग़ुल बकावली जैसे ऐन इस्लामिक रूमानी किस्से-कहानियों को भी पेश किया जाने लगा। शेक्सपीयर की बहुत सारी कहानियों और कथानकों को भारतीय रंग में ढाल दिया गया। उनके पात्रों को नए नाम दिए गए, उन्हें जाति और समुदायों की पहचान भी दी गई, मूल नाटकों के भौगोलिक परिवेश की जगह एशियाई परिवेश शामिल किया गया और कहानी को आगे बढ़ाने वाले तमाम अहम तत्वों को भारतीय-मुस्लिम परिवेश के हिसाब से बदल दिया गया।

पारसी थियेटर में इस्तेमाल की जाने वाली संगीत शैली को 'विशुद्ध शास्त्रीय शैली में परंपरागत पद्धतियों (रागों) के मुताबिक या फूहड़ पारसी व अर्ध-यूरोपीय धुनों से लैस' बताया जाता है।

स्थापित परंपराओं को तोड़ते हुए पारसी रंगमंच पर 1880 के आस-पास महिला अभिनेत्रियां भी दिखाई देने लगीं। इसके पीछे बल्लीवाला की कोशिशों का काफी हाथ था। इस तरह की ज़्यादातर अभिनेत्रियां मुख्य रूप से पेशेवर गायिकाओं और नर्तकियों में से चुनी जाती थीं। महिला अभिनेत्रियों के अभिनय को देखने के लिए दर्शक थियेटर की तरफ खिंचे

चले आते थे और एकल नर्तकियों को 'भारी शोर-शराबे के बीच रुपयों और सिक्कों से नवाज़ते रहते थे।' नायिका की भूमिका और नृत्य कार्यक्रमों के लिए बहुत सारी कंपनियां ऐसे लड़कों से भी अभिनय करवाती थीं जिनकी आवाज़ लड़कियों जैसी थी और जो देखने में सुंदर व आकर्षक थे।

कठपुतली

दर्शकों को निर्जीव साधनों के ज़रिए सजीव ढंग से कहानी सुनाने के लिए कठपुतलियों या गुड्डे-गुड़ियों की गतियों में निहित विविधता और संभावनाओं का सहारा लिया जाता है।

कठपुतलियां बुनियादी तौर पर चार किस्म की होती हैं—दस्ताना कठपुतली, डोरी कठपुतली, छड़ कठपुतली और छाया कठपुतली। डोरी से चलने वाली कठपुतलियां राजस्थान की एक खास सांस्कृतिक विधा हैं। दूसरी तरफ दस्तानों पर आधारित कठपुतली विधा का जन्म उड़ीसा और केरल में हुआ। इन गुड़ियाओं को हाथ पर दस्ताने की तरह पहना जाता है और कलाकार अपनी उंगलियों के सहारे उनके सिर और बांहों को हिलाता है। जब ये कठपुतलियां मंच पर क्रियाओं के ज़रिए एक खास कथानक पेश करती हैं उसी समय उनकी गतियों के तालमेल में कठपुतली कलाकार पीछे से कविता या गद्य के रूप में कहानी कहता रहता है।

उड़ीसा में दस्ताना कठपुतलियों को कांधी नाचा कहा जाता है। केरल में दस्ताना कठपुतलियों के मंचन को पारा कूथू कहा जाता है और यह अपने मेकअप और वेशभूषा के मामले में कथकली से काफी प्रेरित दिखाई देती हैं।

असल में कठपुतली का नाच या नाटक एक किस्म का प्रक्षेपित नाटक है। कठपुतली बुनियादी तौर पर अपने रचनाकार के विचारों की उपज होती है। कठपुतली कला की अपनी एक भाषा है और कठपुतलियां अपने खास अंदाज में अपना संदेश सुनाती हैं।

ऐतिहासिक रूप से कठपुतली कला भी थियेटर, संगीत, नृत्य और डिज़ाइन आदि के साथ सहअस्तित्व में रही है। हालांकि कठपुतली कला ने इन सभी कला रूपों से कुछ न कुछ ग्रहण किया है मगर उसने अपनी एक खास वस्तुपरकता, एक खास शैली और गति विधान भी विकसित किया है। यद्यपि कठपुतली कला ज़्यादातर प्राचीन सभ्यताओं में मौजूद रही है मगर विद्वानों का मानना है कि इसका जन्म भारत में हुआ था। सूत्रधार शब्द इस कला की मौजूदगी की गवाही देता है। सूत्रधार का शाब्दिक अर्थ एक ऐसे व्यक्ति से होता है जो और कलाकारों सजीव, निर्जीव दोनों की डोरियां पकड़े रहता है। बाद में रंगमंचीय प्रदर्शनों में यह जगह कथावाचक या नैरेटर ने ले ली।

परंपरागत रूप से कठपुतली कलाकार आमतौर पर अपने क्षेत्रीय लोक थियेटर के पदचिन्हों पर चलते हैं। वह अपने बड़े-बूढ़ों से कठपुतली की कला और तकनीक सीखते हैं। कठपुतली थियेटर का अपना एक कथानक होता है (जिसे पढ़कर या गाकर सुनाया जाता है)। इसमें असली वाचक और गायक दर्शकों को दिखाई नहीं देते। आवाज़ में उतार-चढ़ाव के ज़रिए कठपुतली कलाकार कठपुतलियों को अपनी अभिव्यक्ति देते हैं। कठपुतली कार्यक्रमों में स्त्री कठपुतली पात्रों के लिए महिलाएं भी मंच के पीछे से अपनी आवाज़ देती हैं।

परंपरागत कठपुतली कलाकारों के पास कोई लिखित पटकथा नहीं होती। वह महाकाव्यों, पुराणों और स्थानीय थियेटरों में प्रचलित कहानियों का ही मंचन करते हैं। आमतौर पर ये कहानियां कलाकारों को याद हो जाती हैं। हास्यप्रद पात्र कठपुतली थियेटर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

कठपुतली कलाकार अपने क्षेत्र के लोक नृत्यों में प्रवीण होते हैं क्योंकि उन्हें अकसर अपनी कठपुतलियों के साथ नाचना पड़ता है। कर्नाटक के यक्षग्ना कठपुतली कलाकार अपनी कठपुतलियों के नृत्य में साथ देने के लिए अपने पैरों की थाप के लिए मशहूर हैं।

कठपुतली कलाकार मंच पर रोशनी के लिए पहले तेल के दीये, मिट्टी के दीये और लालटेनों का इस्तेमाल करते थे मगर अब उनमें से बहुत सारे कलाकार बिजली का इस्तेमाल करने लगे हैं।

परंपरागत कठपुतली प्रदर्शनों में संगीत का काफी महत्वपूर्ण स्थान होता है। हाथ में दस्ताना कठपुतली पहनने वाला कलाकार साथ-साथ गाना भी गाता रहता है और कई बार दूसरे हाथ से ढोल आदि वाद्य यंत्र भी बजाता है। कठपुतली कलाकारों के बहुत सारे समूहों में संगीतकारों की भी एक टोली होती है। मिसाल के तौर पर, बहुत सारे छड़ कठपुतली समूहों में चार से पांच संगीतकार होते हैं। ज़्यादातर डोरी कठपुतली समूहों में भी कम से कम एक गायक और एक वादक जरूर होता है। राजस्थान की कठपुतली कला में संगीत एक केंद्रीय भूमिका निभाता है क्योंकि मंच के पीछे गायक दर्शकों के मनोरंजन में इजाफे के लिए अलग-अलग आवाज़ें निकालता रहता है। यह संगीत या तो स्थानीय लोकगीतों पर आधारित होता है या शास्त्रीय रागों पर। बंगाल के डोर और छड़ कठपुतली कलाकार जात्रा (थियेटर का एक रूप) और फ़िल्मों के लोकप्रिय गीतों का इस्तेमाल करते हैं। बिहार जाने पर ये टोलियां भोजपुरी गीतों का इस्तेमाल करने लगती हैं।

क्योंकि कठपुतली कला आम लोगों के लिए मनोरंजन का साधन रहा है इसलिए बहुत सारी परंपरागत कठपुतली टोलियां साफ-सफाई, स्वास्थ्य, लड़कियों की पढ़ाई लिखाई, परिवार नियोजन और पर्यावरण जैसे सामाजिक मुद्दों और समस्याओं पर नृत्य और नाटिकाएं दिखाती रहती हैं। इस तरह के बहुत सारे कार्यक्रमों को सरकारी संस्थाओं या स्वैच्छिक संगठनों के सौजन्य से आयोजित किया जाता है।

भारतीय सिनेमा

मुख्यधारा के बंबइया सिनेमा ने अपने जन्मकाल से ही हमारे देश की साझी विरासत की रक्षा, प्रोत्साहन और लोकप्रियता में एक अहम भूमिका निभाई है। एक लिहाज से देखा जाए तो भारतीय सिनेमा का यह योगदान इस साझी विरासत की रक्षा और प्रोत्साहन से भी कहीं बढ़कर रहा है। हिंदी सिनेमा ने एक ऐसी संस्कृति रची है जिसे आप अखिल-भारतीय संस्कृति का नाम भी दे सकते हैं और इस संस्कृति में भी हमारी साझी विरासत साफ दिखाई देती है। कहने का आशय यह है कि लोकप्रिय भारतीय सिनेमा न केवल साझा संस्कृति की सेवा करता है (फ़िल्मों में इस संस्कृति को एक पसंदीदा और बेहतर संस्कृति के रूप में पेश किया जाता रहा है) बल्कि यह इस संस्कृति की रचना भी करता है, उसकी समृद्धि में योगदान देता है (हमारी फ़िल्में अपने अखिल भारतीय नेटवर्क की मदद से क्षेत्रीय सांस्कृतिक गुणों व रुझानों को अन्य सांस्कृतिक परिवेशों में गूंथ देती हैं)।

हिंदी सिनेमा ने देश की साझी विरासत को लोकप्रिय बनाने में किस-किस तरह से मदद की है, इसके कुछ तरीके नीचे दिए गए हैं :

1. **सहिष्णुता/बर्दाश्त/सहनशीलता को ज़िंदगी के एक तरीके के रूप में पेश करना :** एक विविधतापूर्ण सांस्कृतिक परिवेश में अलग-अलग समुदायों के बीच सहिष्णुता और मेलजोल जन्मकाल से ही हमारे सिनेमा का एक प्रमुख विषय रहा है। इस सहिष्णुता के महत्व और अलग-अलग समुदायों के बीच बनने वाले संबंधों के सुदृढ़ीकरण में उसकी भूमिका को व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर सिनेमा के पर्दे पर बार-बार चित्रित किया गया है। हमारी फ़िल्मों में इस बात पर पूरा जोर दिया गया है कि 'हम' और 'वह' में कोई फर्क नहीं है। 'अन्य' सांस्कृतिक/जातीय/धार्मिक पृष्ठभूमि के लोग भी हमारे जैसे ही हैं, वह भी मानवीय भावनाएं रखते हैं और सुख-दुख को महसूस करते हैं। हमारी फ़िल्मों ने 'अन्य' या 'परायों' के खिलाफ संकीर्णता और दुश्मनी के रवैये को कभी बढ़ावा नहीं दिया। इस प्रसंग में कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्मों के नाम इस प्रकार हैं : खुदा की शान (1931), पड़ोसी (1941), हम एक हैं (1946), आर-पार (1954), हम पंछी एक डाल के (1957), चार दिल चार राहें (1959), काबुलीवाला (1958), सात हिंदुस्तानी (1969), नन्हा फ़रिश्ता (1969), पंडित और पठान (1976), अमर अकबर एंथनी (1977), सज़ा-ए-काला पानी (1997), गुलाम-ए-मुस्तफ़ा (1997), लगान (2001) आदि।

2. **सामुदायिक किरदारों का सकारात्मक चित्रण :** हमारी साझी विरासत विभिन्न समुदायों के बीच एकता और सद्भाव के दो मजबूत स्तंभों पर खड़ी है। इसीलिए हमारे लोकप्रिय सिनेमा में अल्पसंख्यक समुदायों के ऐसे जाने-माने व्यक्तियों को सहिष्णुता, हमदर्दी और सदिच्छा के गुणों से लैस तथा समाज एवं लोगों के प्रति मददगार व्यक्तियों के रूप में दर्शाया गया है। इस लिहाज से बाज़ी (1952, एंग्लो-इंडियन किरदार), गरम कोट (1952, मुस्लिम किरदार), बूट-पॉलिश (1954, ईसाई किरदार), प्यासा (1955, मुस्लिम किरदार), धूल का फूल (1959, मुस्लिम किरदार), अनाड़ी (1959, ईसाई किरदार), ज़ंजीर (1973, पठान किरदार), अंजुमन (1986, हिंदू किरदार), हथियार (1989, मुस्लिम किरदार), मिस बीटलीज़ चिल्ड्रन (1992, अंग्रेज मिशनरी), हुकूमत (1997, मुसलमान और ईसाई दोनों), सरफरोश (मुस्लिम किरदार) आदि कुछ प्रमुख फ़िल्में हैं।

   इस तरह की फ़िल्मों का एक अहम पहलू यह रहा है कि सामुदायिक पृष्ठभूमि वाले किरदार को अक्सर किसी दूसरे समुदाय के अभिनेता या अभिनेत्री ने निभाया है। इसीलिए पंडित और पठान में पंडित की भूमिका महमूद ने जबकि

पठान की भूमिका जोगिंदर ने निभाई है। यह बात हमारी फ़िल्मों में दिखाए जाने वाले ज़्यादातर सामुदायिक किरदारों के चित्रण पर लागू होती है। गौरतलब है कि भारतीय सिनेमा के महानायक दिलीप कुमार (असली ज़िंदगी में युसूफ ख़ान) ने शायद ही कभी कोई मुस्लिम किरदार निभाया होगा (अर्ध-ऐतिहासिक फ़िल्म मुग़ल-ए-आज़म और आज़ाद फ़िल्म में भेष बदले मुसलमान का किरदार इसके अपवाद हैं)। साठ के दशक में बनी ज़्यादातर मुस्लिम सोशल यानी मुसलमानों की सामाजिक ज़िंदगी पर बनी ज़्यादातर फ़िल्मों के सभी मुख्य किरदार गुरुदत्त, अशोक कुमार, राजेंद्र कुमार, प्रदीप कुमार और राजेश खन्ना आदि हिंदू अभिनेताओं ने निभाए हैं।

3. **साझा संस्कृति और सहिष्णुता के मूल्यों को स्थापित करने वाली ऐतिहासिक फ़िल्मों का निर्माण :** बहुत सारी ऐतिहासिक फ़िल्मों में हिंदू और मुस्लिम किरदारों की सकारात्मक छवियां पेश की गई हैं और उनकी सांस्कृतिक निकटता को उजागर करने की कोशिश की गई है। सोहराब मोदी की पुकार (1939), महबूब ख़ान की हुमायूं (1945), और के. आसिफ़ की मुग़ल-ए-आज़म इस लिहाज से बेहतरीन फ़िल्में मानी जा सकती हैं। मध्यकाल पर आधारित तानसेन (1946), बैजू बावरा (1952), संगीत सम्राट तानसेन (1959), रानी रूपमती (1960) और मीरा (1990) जैसी अर्द्ध-ऐतिहासिक संगीतमय फ़िल्मों को इस बात के लिए याद रखा जाता है कि उनमें मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल के दौरान भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को अत्यंत शक्तिशाली ढंग से दर्शाया गया है। उल्लेखनीय है कि उस समय साहित्य, संगीत, नृत्य और वाचिक रंग-मंच में अलग-अलग समुदायों के सांस्कृतिक पहलू एक दूसरे से मिलते जा रहे थे।

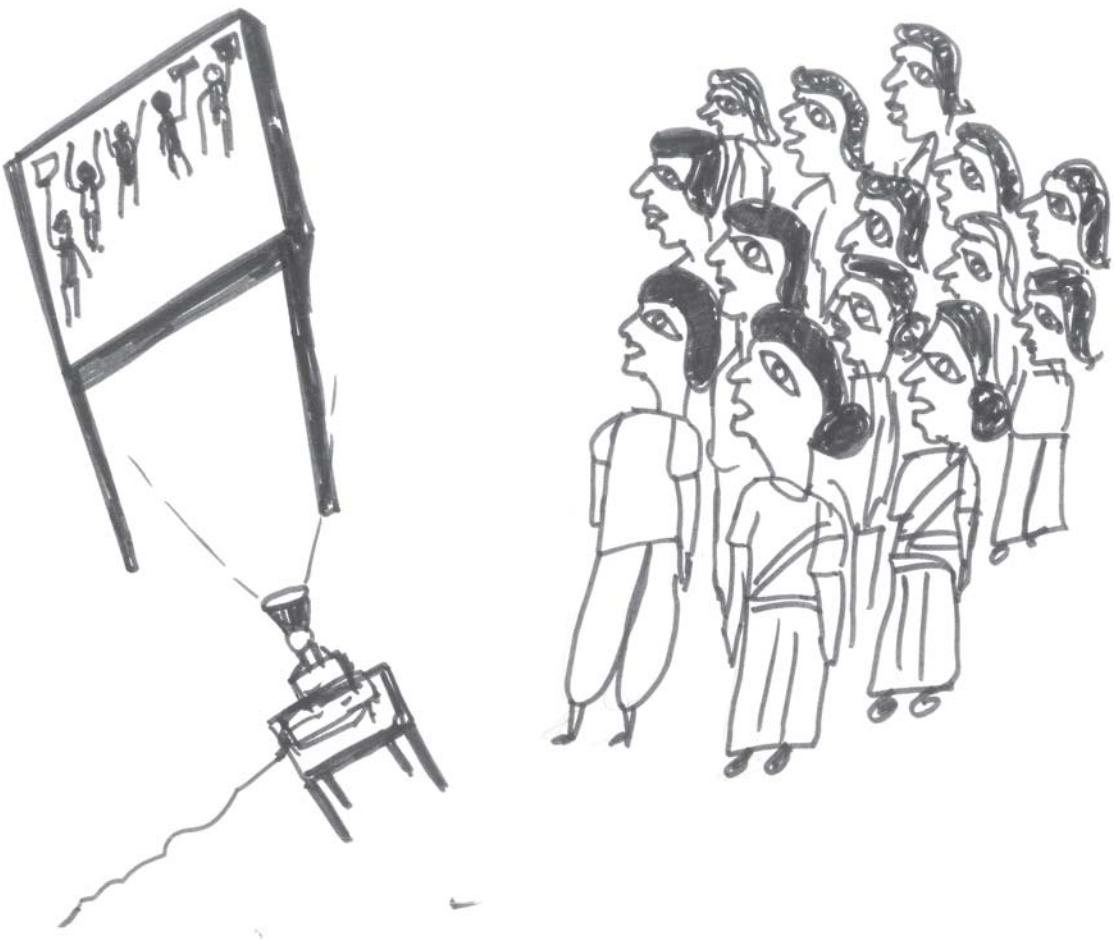

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 5

तनाव-टकराव का संदर्भ

⊙ उद्देश्य

अपने क्षेत्र के तनावों को पहचानकर उनका मुकाबला करने के लिए जिम्मेदार ताकतों को पहचानना तथा उनका विश्लेषण करना।

चर्चा-परिचर्चा के लिए निम्नलिखित बिंदुओं को चार्ट पर लिखकर बोर्ड पर लटकाएं :

- क्या आपके क्षेत्र में किसी तरह का तनाव है ?
- यदि हाँ, तो तनाव किस प्रकार का है ?
- आपकी दृष्टि में तनाव के लिए कौन सी ताकतें/तत्व जिम्मेदार हैं ?
- तनाव कम करने अथवा इसका मुकाबला करने में कौन-सी ताकतें सामने आ रही हैं ?
- तनाव दूर करने अथवा कम करने के लिए लोग क्या कर रहे हैं ?

प्रक्रिया

- यदि सहभागी एक ही क्षेत्र से संबंधित हों तो गिनती करके समूह-निर्माण कर सकते हैं अन्यथा क्षेत्रवार समूह बनाएं।
- प्रस्तुतिकरण

सुझाव

फेसिलिटेटर इस बात का विशेष ध्यान रखें कि पाँचवें बिंदु के संदर्भ में सहभागी भविष्य की कार्यनीति बनाने लगते हैं, ऐसा न हो इसलिए फेसिलिटेटर सहभागियों को यह स्पष्ट करे कि उन्हें उस बिंदु के लिए तनावग्रस्त क्षेत्र में मुकाबला किए जाने वाली ताकतों द्वारा अपनाई जाने वाली कार्यनीतयों को लिखना है।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्कैच पेन, टेप

समय

02:00 घंटा

फेसिलिटेटर नोट

अभी तक हमने साझी विरासत के विभिन्न पहलुओं को जाना-समझा। लेकिन जिस समाज में हम रहते आए हैं उस समाज की इसके अलावा कुछ कड़वी सच्चाईयां भी हैं। जो समाज में तनावों और टकरावों के रूप में घर की हुई हैं। इस खंड में हम इन्हीं तनावों-टकरावों, उसके पीछे की विभेदक ताकतों व उनके कारण उपजे संघर्षों के द्वारा मुकाबला करने वाली ताकतों के बारे में जाने-समझेंगे।

इस सत्र के अभ्यास से सहभागी एक दूसरे के क्षेत्र की वास्तविकताओं को जान पाएंगे। चूंकि सहभागी अलग-अलग इलाकों से आए हैं और हर एक की अपनी-अपनी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक पृष्ठभूमि है जिनके कारण वहां के तनावों टकरावों के मूल तत्व एक जैसे हों परंतु इनका स्वरूप हर एक जगह अलग-अलग हो सकता है।

हमारे लिए इन तनावों-टकरावों उसके पीछे के कारणों व उनसे मुकाबला करने वाली ताकतों के बारे में जानना समझना इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे आने वाली चुनौतियों को समझने और उनके प्रति दृष्टिकोण बनाने में सहायता मिलेगी।

फेसिलिटेटर द्वारा प्रतिभागियों को यह बात याद दिलानी चाहिए कि किसी क्षेत्र के तनाव और संघर्ष उस क्षेत्र विशेष की सामाजिक-राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों के ही प्रतिफल हैं। जातीयता, सांप्रदायिकता, लैंगिकता, नस्लवाद और अन्य कई रूपों के संघर्ष की जड़ में सामाजिक-राजनैतिक व आर्थिक स्थितियां ही होती हैं।

फेसिलिटेटर इस बात का ध्यान रखे कि सहभागी समाज में अपने-अपने कामों को करते हुए अक्सर एक ही दिशा में सोचने लगते हैं इसलिए वे कुछ ही समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। इसलिए फेसिलिटेटर प्रतिभागियों को अपने क्षेत्र के संदर्भ में व्यापक स्तर पर सोचने के लिए प्रोत्साहित करे।

फेसिलिटेटर को हर प्रकार के तनाव-टकरावों व उसके पीछे की ताकतों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिएं। जिससे सहभागियों को सही दिशा मिल सके। तनाव-टकराव के संदर्भ में उसके पीछे की ताकतों को गिनाते वक्त सहभागी सहजता से कई ताकतों की ओर उंगली उठाते हैं। लेकिन इसमें कुछ मुख्य तथ्य जैसे कि मुद्दों के प्रति उदासीनता, तटस्थता, गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार छूट सकते हैं। यह तथ्य इस बात को दर्शाता है कि कहीं न कहीं हम जैसे कार्यकर्ता भी मुद्दों के प्रति उदासीनता या तटस्था या गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार के माध्यम से कहीं न कहीं तनाव-टकराव को बल प्रदान करते हैं।

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 6

नकारात्मक साझी विरासत

उद्देश्य

सहभागियों को यह समझाना कि साझी विरासत के कुछ रूप समाज में नकारात्मक प्रभाव भी डालते हैं। और उनकी वजह से समाज में तनाव व टकराव भी पैदा होते हैं।

प्रक्रिया

- सहभागियों के समक्ष उद्देश्यों को रेखांकित करें साथ ही कार्यक्रम के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करें।
- कहानी पढ़ने के लिए देना या फिल्म दिखाना।
- छोटे समूह में चर्चा।
- प्रस्तुतिकरण।

सहभागियों से नकारात्मक साझी विरासत पर बज-ग्रुप द्वारा कार्य 10 से 15 मिनट में कार्य करवाया जाए।

चर्चा के बिंदु

1. आपकी नज़र में कौन कौन-सी परंपराएं नकारात्मक साझी विरासतें हैं?
2. हम क्यों इन नकारात्मक परंपराओं को अपनाते हैं?
3. कैसे यह नकारात्मक परंपराएं हमारी साझी विरासत बन जाती हैं?
4. ये नकारात्मक परंपराएं किन माध्यमों से समाज का हिस्सा बनती हैं?

अगर आप कोई कहानी या कोई फिल्म इस्तेमाल कर रहे हैं तो चर्चा के उपरोक्त बिंदुओं को कहानी या फिल्म के पात्रों और परिस्थितियों से जोड़कर प्रश्न बनाएँ।

समूह निर्माण

फेसिलिटेटर को सुनिश्चित करना चाहिए कि किसी भी समूह में केवल महिलाएँ या केवल पुरुष ही न हों। जहाँ तक हो सके, यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी समूहों में विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि (धर्म, जाति, समुदाय, लिंग, नस्ल, वर्ग आदि) से संबंध रखने वाले सहभागी मौजूद हों।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, टेप, कहानी और फिल्म।

समय

02:30 घंटे

फेसिलिटेटर नोट

जब हम टकरावों से जूझ रहे समाजों में हस्तक्षेप के लिए साझी विरासत की बात करते हैं तो साझी विरासत के उन पहलुओं को अक्सर नजरअंदाज कर देते हैं जो सदियों से हमारे समाज को बांटते आ रहे हैं। ये ऐसे तत्व हैं जिनकी वजह से हमारे समाज में बार-बार हिंसा और शोषण को बल मिला है, जिनकी वजह से बहुत सारे लोग बार-बार दासता की जंजीरों में जकड़े गए हैं। लैंगिक भेदभाव, जातिगत ऊंच-नीच और नस्ली शोषण व दमन हमारी साझी विरासत के ऐसे ही नकारात्मक तत्व हैं। लैंगिक आधार पर औरतों का शोषण दुनिया भर के लोगों की साझी विरासत रहा है। यह पुरुषों के लिए भी साझी विरासत है क्योंकि इससे उन्हें एक-दूसरे के नजदीक आने का ज़रिया मिलता है। पुरुष होने के नाते इसकी वजह से उन्हें फायदा पहुंचता है। दूसरी तरफ दुनिया भर की औरतें इसी विरासत की वजह से कमजोर हैसियत में पड़ जाती हैं। तमाम समाजों और देशों में यह औरतों की भी साझी विरासत है। यह सिलसिला यहीं खत्म नहीं होता। अवस्था के अन्दर कई ऐसे उदाहरण भी मिल जायेंगे जहां हमारी ये विरासतें महिला और पुरुष दोनों के लिए ही समान रूप से साझी विरासत का रूप ले लेते हैं। पुरुष इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि लैंगिक आधार पर होने वाले भेदभाव को मर्द व औरत, दोनों स्वाभाविक मान लें। पुरुष जान-बूझकर इस व्यवस्था को बनाए रखने की कोशिश करते हैं। इस बात को औरतों की नियति और पूरे समाज की मूल्य-मान्यताओं के रूप में स्वीकार्यता दिलाने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए जाते हैं। बच्चों के लालन-पालन, घर व आस-पास के परिवेश में लड़कियों के साथ होने वाला बर्ताव, उनके सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने का तरीका, इन सबकी वजह से औरतें वैसा ही व्यवहार करने लगती हैं जैसे व्यवहार की पितृसत्तात्मक समाज उनसे उम्मीद करता है। घर से लेकर स्कूल और कॉलेजों तक फैली समूची शिक्षा व्यवस्था भी इस लक्ष्य को हासिल करने की पूरी कोशिश करती है। और तो और, हमारे धार्मिक ग्रंथ भी इस समस्या से आजाद नहीं हैं। जब लड़की वयस्क होती है तब तक आते-आते उसे पितृसत्तात्मक समाज द्वारा तय किए गए तमाम 'कायदे-कानूनों' और 'मूल्य-मान्यताओं' का पाठ अच्छी तरह पढ़ा दिया जाता है। वह इन 'मूल्य-मान्यताओं' और 'कायदे-कानूनों' की वाहक एवं संरक्षक ही नहीं बल्कि उनकी रक्षा के लिए जवाबदेह भी ठहरा दी जाती है। परिणामस्वरूप, वह भी चुपचाप और सहज ही पुरुषों को औरतों से बेहतर व उच्चतर मानने लगती है। बचपन में वह अपने पिता और भाइयों को अपने से श्रेष्ठतर मानते हुए बड़ी होती है। विवाह के बाद उसका पति ही उसका 'स्वामी' हो जाता है। मां के रूप में उससे बेटे की उम्मीद रखी जाती है। उसे जिन मूल्य-मान्यताओं का पाठ पढ़ाया जाता है उनके चलते वह खुद भी बेटे-बेटियों के साथ अलग-अलग तरह का बर्ताव करने लगती है। यानी वह जानते-बूझते हुए ऐसे सारे काम करने लगती है जिनकी पितृसत्तात्मक समाज उससे उम्मीद करता है। जब मर्द और औरतें एक जैसे कायदे-कानूनों और मूल्यों को विरासत में पाते हैं, और उनकी रक्षा करते हैं तो वह पूरे समाज की साझी विरासत बन जाते हैं।

मुख्य रूप से भारत और सामान्य रूप से पूरे दक्षिण एशिया में यही बात जाति व्यवस्था पर भी लागू होती है। जो मूल्य सवर्ण जातियों के सदस्यों को सिखाए जाते हैं वही निचली जातियों को भी सिखाए जाते हैं और इस तरह वह भी अपनी दुर्दशा को अपनी नियति मानने लगते हैं।

कथित निचली जाति में पैदा होने वाले व्यक्ति को कदम-कदम पर इस बात का अहसास कराया जाता है कि उसका दायित्व कथित ऊंची जाति में पैदा होने वालों की सेवा करना है। धर्म इस व्यवस्था को और वैधता देता है। जैसे ही तथाकथित दलित इस सामाजिक व्यवस्था को मानना शुरू कर देता है वह भी इस सामाजिक व्यवस्था का संरक्षक और वाहक बन जाता है। उसके सोचने का तरीका उन लोगों से मिलता-जुलता दिखाई देने लगता है जो उसे क्रीतदास की स्थिति में बनाए रखना चाहते हैं। जैसे ही उत्पीड़ित और उत्पीड़क, दोनों समूची समाज व्यवस्था को समान ढंग से स्वीकार कर लेते हैं, वह उनके लिए साझी विरासत बन जाती है और उसकी जड़ें पुख्ता होती जाती हैं। यह हमारी ऐसी विरासत है जो पूरे समाज को तार-तार कर सकती है।

नोट 1 : मुद्दे पर और बेहतर समझ बनाने के लिए फेसिलिटेटर पठन सामग्री 1, 2, 3, व 4 (पेज नं 64 से 81) पढ़ें।
नोट 2 : फिल्में : सद्गति, धर्म, मिर्च-मसाला, दीक्षा, पिंक आदि दिखाई जा सकती हैं।

पठन सामग्री-1

मेरा पक्का दोस्त राजकिशोर और मैं

यह बात करीब 28 बरस पुरानी है। तब हम एक कस्बे में रहते थे। मैं एक सरकारी स्कूल में चौथी में पढ़ता था। उन दिनों मेरे दो ही सबसे पक्के दोस्त थे, स्कूल में राजकिशोर और कमलेश। वो दोनों चचेरे भाई थे। राजकिशोर मेरा पक्का दोस्त था। एकदम पक्का। क्लास में हम अगल-बगल ही बैठते। बाहर, जहाँ जाते साथ जाते। हमारी कक्षा में एक मास्टरजी होते और 40 बच्चे। आखिर एक जान 40 बच्चों को कैसे सम्भालती? सो यह जिम्मा हमने अपने सिर ही ले लिया था। हम ही एक-दूसरे को सम्भालते रहते।

राजकिशोर के पास एक साइकिल थी। वह मुझे उस पर बिठाकर खूब घुमाता। शायद इसके चलते हमारी दोस्ती ज़्यादा ही पक्की हो गई थी। पर, मास्टरजी और बाकी बच्चे राजकिशोर और उसके भाई को कुछ खास पसन्द नहीं करते थे। (पर मुझे इससे क्या मतलब होना चाहिए?) उनकी नापसन्दगी के कई कारण रहे होंगे पर मुझे तो दो ही समझ में आए और वह भी अब जाकर। पहला, ये दोनों उम्र में बाकी बच्चों से काफी बड़े थे, करीब 14-15 साल के। और दूसरा, वे जाति के बसोर थे। सुअर पालते थे। उनके बालों को उखाड़ते और बेचते थे। बाँस की टोकरी बनाते और फिर उन्हें गली-गली जाकर बेचते थे। उनके साथ पढ़ने वाले हम बच्चों के अलावा दूसरे लोग उन्हें छूने से भी कतराते थे।

एक बार मैं राजकिशोर के साथ उसके घर गया। हमारे स्कूल के पीछे वाले इलाहाबाद बैंक और पोस्ट ऑफिस के सामने से जाती चौड़ी सड़क उसे मोहल्ले में पहुँचते-पहुँचते बेहद सँकरी हो गई थी। ऊपर से आधी गली में नाली का पानी चला आया था। खेर हम उसके घर पहुँचे। मेरे घर की ही तरह वह भी छप्पर वाला मकान था। पर, दो कमरों का। घर के बाहर छोटे-छोटे घरौंदे से बने थे। उनमें सुअर का परिवार रहा करता था। राजकिशोर गया और उन्हीं घरौंदों में से दो छोटे-छोटे सफेद सूअर के बच्चे उठा लाया। मैं थोड़ी देर ही उनसे खेल पाया। फिर वे उछले और अपनी माँ के पास जाकर ही रुके।

उसके घर जाने पर एक और खुलासा हुआ कि उसकी शादी हो चुकी है। दो साल पहले। मुझे इस बात का पता चल जाने से राजकिशोर कुछ शरमा-सा गया। मेरे कान में फुसफुसाया कि मैं यह बात अपने तक ही रखूँ। उसकी शादी की बात सुनकर मुझे अजीब सा लगा। और मन ही मन में हँसी भी आई। बाद में यह भी पता चला कि उसकी छोटी बहन भी शादीशुदा है और उसके एक बच्चा भी है।

उनकी सामाजिक हैसियत का अंदाजा आज लगाता हूँ। उसकी आर्थिक स्थिति मेरे से तो बेहतर ही थी। उसके पास साइकिल और खुद के कमाए पैसे... नहीं रुपए भी होते थे और मेरे पास दोनों नहीं थे। राजकिशोर रोज़ स्कूल नहीं आ पाता था। उसे घर के कई काम होते थे। जैसे सुअर सम्भालना। अगर वे कहीं भाग जाएँ तो उन्हें खोजकर वापिस घर लाना। बाँस की टोकरी बनाना। और फिर उन्हें गली-गली ले जाकर बेचना। इसके बाद स्कूल। वो स्कूल आता तो उसके पास उन दिनों भी 10 से 20 रुपए रहा करते थे। हमारी सैर शुरू हो जाती। हम साइकिल से कस्बे के सबसे किनारे वाले चाट के ठेले पर जाकर पार्टी करते। एक-एक रुपए वाली चाट दो-दो बार खा जाते और ऊपर से फुल्की भी। कुल खर्चे में मेरा हिस्सा... ज़ीरो।

मेरा यही पक्का दोस्त राजकिशोर जब मेरे मोहल्ले में टोकरियाँ बेचने आता तो उसका व्यवहार बदला-बदला लगता। वह मुझसे वैसे बेहिचक बातचीत न करता जैसे कि घूमते वक्त किया करता था। क्यों? आज पता है पर उन दिनों मुझे कहाँ पता था? कक्षा में एक सरल वाक्य भी ठीक से न पढ़ पाने वाले राजकिशोर ने समाज के ऊँच-नीच और छुआछूत के इन कठिन और कड़वे पाटों को ठीक से पढ़ लिया था। टोकरी के लेन-देन के समय राजकिशोर गली में खड़ा रहता और मेरी दादी सहित मोहल्ले की

अन्य महिलाएँ चबूतरे पर और वो भी बखूबी अपने कपड़े समेटकर खड़ी रहती थी। वो टोकरी दिखाने के लिए उसे चबूतरे पर फेंक दिया करता। मेरी दादी राजकिशोर से मेरी पक्की दोस्त के हिस्से का डिस्काउंट ले लेती (जो कभी-कभी तो आधे दाम तक पहुँच जाता) मगर उसे बिना छुए।

मैं उसके घर कई बार गया। पर उसी सँकरे रास्ते से लौटकर कभी उसे अपने घर न ला सका।

स्कूल के बाहर एक और ऐसी जगह थी जो हम दोनों के लिए एक थी। हमारी नदी। गाँव के किनारे-किनारे बहने वाली एक पतली-सी नदी। हम पक्के दोस्तों के मिलने का एक और अड्डा। हमारी नदी तो एक ही थी पर उसके भी घाट अलग-अलग निकले। उनका घाट उनकी बस्ती से नज़दीक था और हमारा अपने मोहल्ले के करीब। मैं उसके घाट पर जाकर नहा सकता था। नहाया भी। पर मेरे कई बार कहने पर भी उसने मेरे घाट में आकर डुबकी नहीं लगाई।

आज मुझे लगता है कि नदी को भी जात-पात, ऊँच-नीच और छुआछूत का भेद पता था। तभी तो उसका पानी पहले हमारे घाट पर आता तब कहीं बहकर उसके घाट को जाता था। क्यों कभी इस सब से बेपरवाह होकर उसने इसके उलट बहने की नहीं सोची?

चौथी कक्षा के लिए हमारे स्कूल में कोई परीक्षा हुई हो ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। हम सब खुशी-खुशी कक्षा पाँच में पहुँच गए। पर एक भूत भी हमारे साथ कक्षा पाँच में आया था - बोर्ड परीक्षा का भूत। हमें क्या पता था कि यह बोर्ड परीक्षा होती क्या है? ऐसा क्या नया होने वाला है इस परीक्षा में? पर यह भूत था बड़ा जबरदस्त। घर से लेकर स्कूल तक हमारे पीछे लगा रहता। चाहे मास्टरजी हों या घर के लोग सभी इसी भूत का हवाला देते फिरते। इसी भूत का डर मुझे ट्यूशन ले गया और इसी ने राजकिशोर को स्कूल न आने पर मजबूर कर दिया। नए मास्टरजी अकसर कहते, ''होम का हलुआ तो खा लिया अब बोर्ड वाले कड़वे मज़े के लिए तैयार रहो।'' हो सकता है राजकिशोर और कमलेश का स्कूल छूटने के और भी कई कारण रहे हों। पर मास्टरजी की उस धमकी का क्या कोई हाथ न रहा होगा जिसे वे डरावनी मुद्राएं बना-बनाकर देते थे। इस भूत से डरकर ही मेरी घरवाली ने मुझे पढ़ाई में व्यस्त कर रखा। और इसने ही राजकिशोर का स्कूल आना ही बन्द कर दिया। वह दिन हैं और आज का दिन, हम फिर कभी न मिल सके। पर वह आज भी मेरा पक्का दोस्त है। यादों में।

अम्बरीश सोनी

चित्रः प्रबुद्ध

अतिथि

गर्मी बहुत तेज थी। तीन-चार दिनों से बराबर लू चल रही थी और जगह-जगह मौतें हो रही थीं। शहर की सड़के चूल्हे पर चढ़े तवे की तरह तप रही थीं। बड़े लोगों ने दरवाजों पर खस की टट्टियां लगवा ली थीं और उनके नौकर उन्हें पानी से तर कर रहे थे। दुकानों पर पर्दे गिरे हुए थे। पटरी पर बैठने वाले नाई, खोमचे वाले और लाटरी के टिकट बेचने वाले ओवर ब्रिज के नीचे पहुँच गए थे और शाम होने का इन्तजार कर रहे थे। रिक्शों में लोग इस तरह दुबककर बैठे थे, मानो शरीर का कोई अंग अगर बाहर निकलेगा तो वह जल जाएगा। प्राय: सभी के रूमाल पसीना पोंछते-पोछते काले हो गए थे। देहात के लोग तो अपने चेहरों को मोटे तौलिए या गमछे से इस तरह लपेटे हुए थे कि दूर से वे डाकू जैसे दिखाई पड़ते थे। पैदल चलने वाले लोगों ने अपने सिर पर छाता नही तो अपना बैग ही रख लिया था। किसी-किसी ने तो रूमाल ही सिर पर बांध लिया था। ठेलों पर बिकने वाला पानी पांच पैसे गिलास से बढ़कर दस पैसे के भाव हो गया था।

इस तरह गर्मी ने उस शहर की समाज व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को पूरी तरह अपनी गिरफ़्त में ले लिया था। लोग आजाद होते हुए भी गुलाम थे और मजे की बात यह कि वे गर्मी का कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। अत: लू से बचने के लिए उन्होंने अपने जेबों में प्याज की छोटी-मोटी पोटलियां रख ली थीं और शुक्र मना रहे थे।

एक छोटा-सा प्याज सलमान साहब की जेब में भी पडा था। इसे उनकी बीवी ने चुपके से रख दिया था। सलमान साहब को हालांकि इस बात का पूरा पता था, पर वे यही मानकर चल रहे थे कि प्याज के बारे में उन्हें कुछ भी नहीं मालूम है और अपने इस विश्वास पर वे डटे हुए थे कि लू का प्याज से कोई संबंध नहीं होता।

सलमान साहब अपना सूटकेस उठाए छन्-छन् करती सड़क पर बढ़े जा रहे थे, हालांकि उनकी इच्छा हो रही थी कि अपने सिर पर औरों की तरह वे भी रूमाल बांध ले या तौलिया निकालकर चेहरे के इर्द-गिर्द लपेट लेँ पर असुविधा के ख्याल से वे ऐसा नहीं कर पा रहे थे। इसके अलावा उन्हें इस बात की उतावली भी थी कि जल्दी से वे मिश्रीलाल गुप्ता के निवास पर पहुंच जायें। रिक्शा उन्हें मिला नहीं था, अत: अपने मन को वे यह भी समझाते जा रहे थे कि स्टेशन से उसका कमरा ज्यादा दूर नहीं है। यह बात मिश्रीलाल ने ही उन्हें बताई थी।

सलमान साहब मिश्रीलाल गुप्ता से मिलने पहली बार उस शहर में पहुचे थे। मकान नम्बर तो उन्हे याद था, पर सिचुएशन का पता नही था। लेकिन उन्हे पूरा विश्वास था कि वे मिश्रीलाल गुप्ता को अवश्य ही ढूंढ़ लेंगे।

मिश्रीलाल गुप्ता सलमान साहब के पडो़स का एक ऐसा लड़का था जो कस्बे-भर में अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण मशहूर था। गुप्ता खानदान का वह पहला युवक था जिसने मांस खाना आरम्भ कर दिया था और मुसलमान के होटलों में चाय पिया करता था। जी हां, जिस तरह बनारस का विश्वविद्यालय हिन्दू है और और अलीगढ़ का विश्वविद्यालय मुसलमान, ठीक उसी तरह उनके कस्बे के होटल हिन्दू और मुसलमान थे। यह बात अलग है कि हिन्दू होटलों में मुसलमानो के लिए या मुसलमान होटलों में हिन्दूओं के लिए प्रवेश की कोई मनाही नहीं थी, फिर भी जो धार्मिक लोग थे, वे इसे बुरा समझा करते थे। सलमान साहब के पड़ोसी जैकी साहब हमेशा मुसलमान हलवाई के यहां से ही मिठाई मंगवाते थे, क्योकि शिवचरण हलवाई जो था ,वह इस्तिजे से नहीं रहता था।

उस कस्बे में उन दिनों एक ही स्कूल था और वहां सबको अनिवार्य रुप से संस्कृत पढ़नी पड़ती थी, अत: सलमान साहब ने भी

'राम: रामौ:रामा:पढ़ा ,और नतीजा यह निकला कि वे उर्दू नहीं पढ़ सके। जैसे मिश्रीलाल के बाबा गिरधारीलाल गुप्ता अपने जमाने में सिर्फ़ उर्दू ही पढ़ सके। संस्कृत सीखने का मौका उन्हे नहीं मिला था। एक तो वैश्य, दूसरे मदरसे में उसका प्रबन्ध नहीं था। सो, इसी किस्म की मजबूरियों ने सलमान साहब से संस्कृत पढ़वाई और जब वे उच्च शिक्षा लेने के लिए शहर पहुंचे तो वहां भी उन्होंने संस्कृत ही पढी। उन्हे विश्वास था कि एम. ए. करने के बाद वे कहीं न कहीं संस्कृत के लेक्चरर हो जाएंगे, पर ऐसा नहीं हुआ और अब वे अपने ही कस्बे के नये-नये खुले इस्लामिया मिडिल स्कूल में हिस्ट्री पढ़ाने लगे थे।

मिश्रीलाल जिन दिनों इण्टर कर रहा था, सलमान साहब ने उसे संस्कृत पढाई थी, अत: वह उन्हें अपना गुरू मानता था और चरण छूता था। अब वह बी. ए. कर चुका था और किसी कम्पीटीशन की तैयारी कर रहा था। उसकी प्रबल इच्छा थी कि सलमान साहब जब उसके शहर में आयें तो उसके निवास पर अवश्य पधारें। मिश्रीलाल की इस इच्छा को अनपेक्षित रूप से पूर्ण करने के लिए ही वे बगैर सूचना दिए उस शहर में पहुंच गए थे। अचानक उसके दरवाजे पर दस्तक देकर उसे चौका देना चाहते थे।

सलमान साहब ने मुहल्ले का नाम याद किया—गोपालगंज। हां यही नाम है। मकान नं. 562, राधारमण मिस्त्र का मकान। स्टेशन से यही कोई आध मील पर स्थित।

'क्यों भाई साहब गोपालगंज़ किधर पडेगा?

उन्होंने एक दुकानदार से पूछा तो पान की पीक थूकने का कष्ट न करते हुए उसने गलगलाकर यह बताया कि वे महाशय थोड़ा आगे निकाल आए हैं। पीछे मुड़कर बिजली से उस वाले खम्भे से सटी हुई गली में घुस जाएं।

सलमान साहब उसकी दुकान के शेड से जब बाहर निकले तो लू का एक थपेड़ा चट्ट से उनके गाल पर लगा और उन्होंने अपनी एक हथेली कनपटी पर लगा ली। ठीक उसी वक्त उन्हें अपनी जेब में पड़े प्याज का भी ख्याल आया और क्षण-भर को वे आश्वस्त हुए। हां, यही गली तो है। उन्होंने बिजली के खम्भे को ध्यान से देखा और गली में घुस गए।

दाहिनी ओर ए ब्लाक था। सलमान शाहब ने सोचा कि बाईं ओर जरुर बी ब्लाक होगा, पर उधर एच ब्लाक था। वे और आगे बढ़े, शायद ए वाली साइड में ही आगे चलकर बी पड़े। लेकिन नहीं,जहां ए खत्म हुआ वहां से एम शुरु हो रहा था। बाईं ओर सी था। वे चकरा गए।

'कहां जाना है?'

एक सज्जन सड़क पर चारपाई निकालकर उसे पटक रहे थे और नीचे गिरे हुए खटमलों को मार रहे थे। उन्होंने उनकी बेचैनी को शायद भांप लिया था। सलमान साहब ने खुद अपने जूते से खटमल के एक बच्चे को मारा और पूछा, यह बी-पांच सौ बासठ किधर पड़ेगा?'

'ओह, मिसिर जी का मकान? वह पुराने गोपालगंज में है। आप इधर से चले जाइए और आगे चलकर मन्दिर के पास से दाहिने मुड़ जाइएगा। वहां किसी से पूछ लीजिएगा।'

सलमान साहब ने उन्हें धन्यवाद दिया और चले पड़े। मन्दिर के पास पहुंचकर जब वे दाहिनी ओर मुड़े तो उन्होंने देखा कि पीछे चार-पांच भैंसे बंधी हैं और एक लड़की अपने बरामदे में खड़ी होकर दूर जा रहे चूड़ीवाले को बुला रही है।

पुराना गोपालगंज क्या यही है?

पर उस लड़की ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसका सारा ध्यान चूड़ीवाले के ठेले पर लगा हुआ था।

सलमान साहब आगे बढ़ गए।

थोड़ा और आगे जाने पर पुराने ढ़ग के ऊंचे-ऊंचे मकान उन्हें दिखाई पड़े , जिनकी छाया में उस इलाके की संकरी सड़कें अपेक्षाकृत काफ़ी ठंडी थीं और नंग-धड़ंग बच्चे उन पर उछल रहे थे। सलमान साहब का मन हुआ कि यहां वे क्षण भर के लिए खड़े हो जाये, पर अपने इस विचार का उन्होंने तुरन्त ही परित्याग किया और चलते रहे।

सामने एक लड़का दौड़ा आ रहा था। उसके पीछे-पीछे एक मोटा-सा चूहा घिसटा आ रहा था। लड़के ने चूहे की पूंछ में सुतली बांध दी थी और उसका एक छोर थामे हुए था। सलमान साहब को देखकर—जैसा कि उन्हें उम्मीद थी—वह बिल्कुल नहीं ठिठका और उनकी बगल से भागने के चक्कर में उनसे टकरा गया।

'ये बी-पांच सौ बासठ किधर है जी? तुम्हें पता है, मिश्रजी का मकान?'

लड़के ने उनकी ओर उड़ती-सी नजर डाली और एक मकान की ओर संकेत करता हुआ भाग गया। उसके पीछे-पीछे चूहा भी घिसटता हुआ चला गया।

सलमान साहब ने एक ठड़ी सांस ली और उस विशालकाय इमारत के सामने जाकर खड़े हो गए। वहां बाहर ही दो औरतें चारपाई पर बैठी थीं और पंजाब समस्या को अपने ढंग से हल करने में लगी हुई थीं।

'अरी बिट्टन की अम्मां, वो तो भाग मनाओ कि हम हिन्दुस्तान में हैं, पंजाब में होती हो न जाने क्या गत हुई होती...।'

राधाचरण मिश्रजी का मकान यही है?

स्त्रियां चारपाई पर बैठी रहीं, जबकि सलमान साहब ने सोचा था कि वे उठ खड़ी होंगी—जैसा कि उनके कस्बे में होता है—लेकिन यह तो शहर है...

'मिसिर जी यहां नहीं रहते। वे जवाहर नगर में रहते हैं। यहां सिर्फ़ उनके किराएदार रहते हैं।' एक स्त्री ने उन्हें जानकारी दी और खामोश हो गई।

'क्या काम है?' दूसरी ने पूछा और अपना सिर खुजलाने लगी।

'उनके मकान में एक लड़का रहता है मिश्री लाल गुप्ता, उसी से मिलना था।'

'ऊपर चले जाइए, सीढ़ी चढ़कर दूसरा कमरा उन्हीं का है।' उस सिर खुजलाने वाली औरत ने बताया और खड़ी हो गई।

सलमान साहब भीतर घुस गए।

वहां अंधेरा था और सीढ़ी नजर नहीं आ रही थी। थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद उन्हे कोने में एक नल दिखाई पड़ा, फिर सीढ़ी भी दिखने लगी और वे संभल-संभल कर ऊपर चढ़ने लगे।

इस बीच उन्होंने अनुमान लगाया कि मिश्री लाल सो रहा होगा और दरवाजा खटखटाकर उसे जगाना पड़ेगा। वह हड़बड़ाकर उठेगा और सिटकिनी खोलकर आंखें मलते हुए बाहर देखेगा। फिर सामने उन्हें पाकर चरणों पर झुक जाएगा।

‘कौन’?

सीढ़ियां खत्म होते ही इस पार से किसी स्त्री का प्रश्न सुनाई पड़ा और वे ठिठक गए।

‘मिश्री लाल जी हैं क्या’?

‘थोड़ा ठहरिए’।

उस स्त्री ने जरा सख्ती के साथ कहा और सलमान साहब को लगा कि स्त्री किसी महत्त्वपूर्ण काम में लगी हुई है। वे बिना किवाड़ों वाले उस द्वार के इस पार खड़े हो गए और कुछ सोचने लगे। तभी उन्होंने देखा कि अधेड़ वय की गोरी सी औरत मात्र पेटीकोट और ब्रेसियर पहने बरामदे से भागकर सामने वाली कोठरी में घुस गई और जल्दी से साड़ी लपेटकर ब्लाउज की हुक लगाते हुए बाहर निकल आई।

‘आइए !’

उसने सलमान साहब को पुकारा तो वे इस प्रकार भीतर घुसे, जैसे उन्होंने उस स्त्री को अभी थोड़ी देर पहले भीतर घुसते हुए देखा ही नहीं। स्त्री ने भी शायद यही सोचा और इत्मीनान से खड़ी रही।

सलमान साहब ने देखा कि बरामदे में बने परनाले के मुहाने पर एक उतरी हुई गीली साड़ी है और जय साबुन की गन्ध पूरे माहौल में भरी हुई है।

‘मिश्री लाल जी बगल वाले कमरे में रहते हैं, पर वे हैं नहीं।’ सुबह से ही कहीं गए हुए हैं। आप कहां से आ रहे हैं? बैठिए।’

स्त्री ने अत्यन्त विनम्रता के साथ यह सब कहा और एक बंसखट बिछाकर फिर भीतर घुस गई। थोड़ी देर बाद वह एक तश्तरी में गुड़ और गिलास में पानी लिए हुए बाहर आई और बंसखट पर तश्तरी रखकर खड़ी हो गई।

‘पानी पीजिए, आज गर्मी बहुत है।’

इतना कहकर उसने अपनी उतारी हुई साड़ी की ओर देखा और न जाने क्या सोचकर पानी रखकर फिर भीतर घुस गई। अबकी वह ताड़ का एक पंखा लेकर लौटी और उसे भी बंसखट पर रख दिया।

सलमान साहब ने गुड़ खाया, पानी पिया और पंखा लेकर उसे हल्के-हल्के डुलाने लगे।

‘मिश्री कहीं बाहर तो नहीं चला गया है?’

‘बाहर तो नहीं गए हैं, शहर में ही होंगे कहीं। पिक्चर-विक्चर गए होंगे या किसी दोस्त के यहां चले गए होंगे। रोज तो कमरे में ही रहते थे, आज ही निकले हैं बाहर।’

सलमान साहब ने घड़ी देखी, तीन बज रहे थे। उन्होंने थकान का अनुभव किया और बंसखट पर थोड़ा पसर गए।

स्त्री फिर भीतर से तकिया ले आई।

‘आप थोड़ा आराम कर लें, गुप्ता जी शाम तक तो आ ही जाएंगे।’

स्त्री ने उनके सिरहाने तकिया रखा और अपनी गीली साड़ी बाल्टी में रखकर नीचे उतर गई।

सलमान साहब जब लेटे तो जेब में पड़ा प्याज उन्हे गड़ने लगा और उन्होने उसे बाहर निकालकर चारपाई के नीचे गिरा दिया। थोड़ी देर बाद उन्हे नींद आ गई।

नींद में उन्होंने सपना देखा कि उनके स्कूल में मास्टरों के बीच झगड़ा हो गया और पीटी टीचर सत्यनारायण यादव को हेड मास्टर साहब बुरी तरह डांट रहे हैं। सलमान साहब उनका पक्ष लेकर आगे बढ़ते हैं तो सारे मास्टर उन पर टूट पड़ते हैं।

उनकी नींद टूट जाती है।

वे उठकर बैठ जाते हैं।

लगता है, रात हो गई है। भीतर एक मटमैला सा बल्ब जल रहा है, जिसकी रोशनी बरामदे में भी आ रही है। बरामदे में कोई बल्ब नहीं है। भीतर से आने वाली रोशनी के उस चौकोर से टुकड़े में ही एक स्टोव जल रहा है और स्त्री सब्जी छौंक रही है जहां दोपहर में जय साबुन की गन्ध भरी हुई थी, वहीं अब जीरे की महक उड़ रही है।

‘मिश्री लाल नहीं आया अभी तक?’

‘अरे, अब हम क्या बताएं कि आज वे कहां चले गए हैं? रोजाना तो कमरे में ही घुसे रहते थे।’

‘उस स्त्री ने चिन्तित मन से कहा और स्टील के एक गिलास में पहले से तैयार की गई चाय लेकर उसके सामने खड़ी हो गई।’

‘अरे आपने क्यों कष्ट किया?’

‘इसमें कष्ट की क्या बात है? चाय तो बनती ही है शाम को?’

सलमान साहब ने गिलास थाम लिया। स्त्री स्टोव की ओर मुड़ गई।

तभी एक सद्य:स्नात सज्जन कमर में गमछा लपेटे, जनेऊ मलते हुए सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आए और कमरे में घुसकर हनुमान चालीसा का पाठ करने लगे। जीरे की महक के साथ-साथ अब अगरबत्ती की महक भी वातावरण में तिरने लगी।

सलमान साहब ने भीतर झांककर देखा तो पाया कि उस कमरे में पूरी गृहस्थी अत्यन्त सलीके के साथ सजी हुई थी और दीवारों पर राम, कृष्ण, हनुमान, कृष्ण, शंकर पार्वती, लक्ष्मी और गणेश आदि विभिन्न देवी-देवताओं के फोटो टँगे हुए थे। वहीं एक ओर लकड़ी की एक तख्ती लगी थी, जिस पर लिखा था—राममनोहर पाण्डेय, असिस्टेंट टेलीफोन ऑपरेटर। वे सज्जन अपने दाहिने हाथ में अगरबत्ती लिए, बायें हाथ से दाहिने हाथ की टिहुनी थामें सभी तस्वीरों को सुगन्धित धूप से सुवासित कर रहे थे और बीच-बीच में गीता के कुछ श्लोक भी सही गलत उच्चारण के साथ बोल जाते थे। छत पर एक गन्दा-सा पंखा अत्यन्त धीमी चाल से डोल रहा था।

स्त्री ने सब्जी पका ली थी और अब वह रोटियां बना रही थी। सलमान साहब की इच्छा हुई कि अब वे वहां से चल दें और किसी होटल में ठहर जाएं, सुबह आकर मिश्री लाल से मिल लेंगे,क्योंकि रात काफी होती जा रही है और उसका अभी तक पता नहीं है।

वे खड़े हो गए।

'मैं अब चलता हूँ, कल सवेरे आकर मिल लूंगा।

उन्होने अपना बैग उठा लिया।

'कहां जाएंगे?'

स्त्री ने उनसे सीधा सवाल किया और पीछे मुड़कर उनकी ओर ताकने लगी।

'किसी होटल में रुकूंगा।'

'क्यों भाई साहब, होटल में क्यों रुकिएगा, क्या यहां जगह नहीं है? खाना तैयार हो गया है, खा लीजिए और छत पर चलकर लेटिए, रात में गुप्ता जी आ ही जाएंगे। और अगर न भी आएं तो सुबह चले जाइएगा। इस टाइम तो मैं आपको न जाने दूंगी। आइए, जूता-वूता उतारिए और हाथ-मुंह धोकर खाने बैठिए।'

'नहीं भाभी जी, आप क्यों कष्ट उठाती हैं?'

उस स्त्री को भाभी कहने में कोई हर्ज नहीं लगा सलमान साहब को।

'कष्ट की क्या बात है? आइए, खाना खाइए?'

सलमान साहब विवश हो गए। उन्होंने जूते उतारे और हाथ-मुंह धोकर खड़े हो गए।

अब तक पांडेय जी अपनी पूजा-आराधना से खाली हो गए थे और भीतर बिछी चौकी पर बैठकर कुछ कागज-पत्तर देख रहे थे। सलमान साहब को उनसे नमस्कार करने तक का मौका अभी नहीं मिला था। यह उन्हें बहुत खल रहा था। लेकिन इतनी देर बाद नमस्कार करने का कोई औचित्य भी नहीं था, इसलिए उन्होंने सीधे-सीधे बात करने की कोशिश की।

'भाई साहब, आप भी उठिए।'

'नहीं आप खाइए, मैं थोड़ी देर बाद भोजन करुंगा।'

उन्होंने तनिक शुष्क स्वर में सलमान साहब को उत्तर दिया और बगैर उनकी ओर देखे अपने कागज पत्तर में उलझे रहे।

'आप बैठिए, दिन-भर के भूखे प्यासे होंगे। वे बाद में खा लेंगे। दफ्तर से आकर उन्होंने थोड़ा नाश्ता भी लिया हैं। आप तो सो रहे थे।'
स्त्री ने एक बार फिर आग्रह किया और पीढ़ा रखकर थाली लगा दी। लोटे में पानी और गिलास रख दिया।

सलमान साहब बैठ गए।

वे भीतर से बहुत आह्लादित थे। उनके कस्बे में ऐसा नहीं हो सकता कि बगैर जाति-धर्म की जानकारी किए कोई ब्राह्मण किसी को अपने चौके में बैठाकर खाना खिलाए, लेकिन शहर में ऐसा हो सकता है। यद्यपि यह कोई बड़ा शहर नहीं है। और यहां के

लोग भी ग्रामीण संस्कारों वाले हैं, पर है तो आखिर शहर। यहां के पढ़े लिखे लोग प्रगतिशील विचारों के होते हैं। उनमें संकीर्णता नहीं होती। वे धर्म प्रवण होते हुए भी रूढ़ धारणाओं से मुक्त होते हैं।

सलमान साहब को बैंगन की सब्जी बहुत अच्छी लग रही थीं। ताजे आम का अचार यद्यपि पूरा गला नहीं था,पर स्वादिष्ट था। रोटियों पर घी भी चुपड़ा हुआ था। ऐसी रोटियां उनके घर में नही बनती। वहां तो उलटे तवे पर बनी हुई विशालकाय और अधसिंकी चपातियां किसी पुराने कपड़े में लिपटी रखी होती हैं,....

स्त्री ने एक फूली हुई, भाप उड़ाती रोटी उनकी थाली में और डाल दी थी। 'आप गुप्ता जी के गांव से आए हैं?'

सलमान साहब ने सिर उठाया। पांडे जी अब कागज-पत्तरों से खाली हो गए थे और आम काट रहे थे। उनकी आवाज में उसी तरह की शुष्कता विद्यमान थी।

'जी हां!' सलमान साहब ने जवाब दिया और अचार उठाकर चाटने लगे।

पाण्डेजी ने संकेत से पत्नी को भीतर बुलाया और आम की फांकिया थमा दीं।

स्त्री ने उन्हें सलमान साहब की थाली में डाल दिया।

'आप उनके भाई है?' फिर वही शुष्क स्वर।

सलमान साहब को कोफ्त हुई।

'जी नहीं, वह मेरा शिष्य है।'

'क्या आप अध्यापक हैं?'

'जी हां।'

'कहां पढाते हैं?'

'आप भी गुप्ता हैं?'

'जी नहीं।'

'ब्राह्मण हैं?'

'नहीं, मैं मुसलमान हूं,मेरा नाम मुहम्मद सलमान है।'

उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और रोटी के आखिरी टुकड़े में सब्जी लपेटने लगे।

पाण्डे जी ने अपनी स्त्री की ओर आंखें उठाई तो पाया कि वह खुद उनके ओर देख रही थीं। ऐसा लगा कि दोनों ही एक-दूसरे से कुछ कह रहें हैं,पर ठीक-ठीक कह नहीं पा रहे हैं।

सलमान साहब अगली रोटी का इन्तजार कर रहे थे, लेकिन स्त्री स्टोव के पास से उठकर भीतर चली गई थी और कुछ ढूंढने लगी थी।

सलमान साहब आम खाने लगे थे।

स्त्री जब बाहर निकली तो उसके हाथ में कांच का एक गिलास था और आंखों में भय।

उसके सलमान साहब की थाली के पास रखा स्टील का गिलास उठा लिया था और उसकी जगह कांच का गिलास रख दिया था।

सलमान को याद आया कि अभी शाम को जिस गिलास में उन्होंने चाय पी थी, जिस थाली में वे खाना खा रहे थे, वह स्टील की ही थी। पलभर के लिए वे चिन्तित हुए। फिर उन्होंने अपनी थाली उठाई और परनाले के पास जाकर बैठ गए। गुझना उठाया और अपनी थाली मांजने लगे।

स्त्री ने थोड़ा-सा पीछे मुड़कर उनकी ओर देखा , लेकिन फिर तुरन्त बाद ही वह अपने काम में व्यस्त हो गई।

मिश्रीलाल अभी तक नहीं आया था।

अब्दुल बिस्मिल्लाह

ठाकुर का कुआँ

जोखू ने लोटा मुँह से लगाया तो पानी में सख्त बदबू आयी। गंगी से बोला—यह कैसा पानी है ? मारे बास के पिया नहीं जाता। गला सूखा जा रहा है और तू सड़ा पानी पिलाये देती है !

गंगी प्रतिदिन शाम पानी भर लिया करती थी। कुआँ दूर था, बार-बार जाना मुश्किल था। कल वह पानी लायी, तो उसमें बू बिलकुल न थी, आज पानी में बदबू कैसी ! लोटा नाक से लगाया, तो सचमुच बदबू थी। जरुर कोई जानवर कुएँ में गिरकर मर गया होगा, मगर दूसरा पानी आवे कहाँ से?

ठाकुर के कुएँ पर कौन चढ़ने देगा ? दूर से लोग डाँट बतायेंगे। साहू का कुआँ गाँव के उस सिरे पर है, परंतु वहाँ भी कौन पानी भरने देगा ? कोई तीसरा कुआँ गाँव में है नहीं।

जोखू कई दिन से बीमार है। कुछ देर तक तो प्यास रोके चुप पड़ा रहा, फिर बोला—अब तो मारे प्यास के रहा नहीं जाता। ला, थोड़ा पानी नाक बंद करके पी लूँ।

गंगी ने पानी न दिया। ख़राब पानी से बीमारी बढ़ जायगी इतना जानती थी, परंतु यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी ख़राबी जाती रहती हैं। बोली—यह पानी कैसे पियोगे ? न जाने कौन जानवर मरा है। कुएँ से मैं दूसरा पानी लाये देती हूँ।

जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा—पानी कहाँ से लायेगी ?

ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं। क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे?

'हाथ-पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्रह्म-देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेगें, साहूजी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है ! हम तो मर भी जाते है, तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे ?'

इन शब्दों में कड़वा सत्य था। गंगी क्या जवाब देती, किन्तु उसने वह बदबूदार पानी पीने को न दिया।

2

रात के नौ बजे थे। थके-माँदे मजदूर तो सो चुके थे, ठाकुर के दरवाज़े पर दस-पाँच बेफिक्रे जमा थे। मैदानी बहादुरी का तो अब न जमाना रहा है, न मौका। क़ानूनी बहादुरी की बातें हो रही थीं। कितनी होशियारी से ठाकुर ने थानेदार को एक ख़ास मुकदमे में रिश्वत दी और साफ़ निकल गये। कितनी अक्लमंदी से एक मार्के के मुकदमे की नकल ले आये। नाजिर और मोहतमिम, सभी कहते थे, नकल नहीं मिल सकती। कोई पचास माँगता, कोई सौ। यहाँ बेपैसे-कौड़ी नकल उड़ा दी। काम करने का ढंग चाहिए।

इसी समय गंगी कुएँ से पानी लेने पहुँची।

कुप्पी की धुँधली रोशनी कुएँ पर आ रही थी । गंगी जगत की आड़ में बैठी मौके का इंतज़ार करने लगी। इस कुएँ का पानी सारा गाँव पीता है। किसी के लिए रोका नहीं, सिर्फ ये बदनसीब नहीं भर सकते।

गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा—हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं ? यहाँ तो जितने है, एक-से-एक छँटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की भेड़ चुरा ली थी और बाद मे मारकर खा गया। इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते है। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस-किस बात में हमसे ऊँचे हैं, हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे है, हम ऊँचे। कभी गाँव में आ जाती हूँ, तो रस-भरी आँख से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है, परंतु घमंड यह कि हम ऊँचे हैं!

कुएँ पर किसी के आने की आहट हुई । गंगी की छाती धक-धक करने लगी। कहीं देख लें तो गजब हो जाय। एक लात भी तो नीचे न पड़े। उसने घड़ा और रस्सी उठा ली और झुककर चलती हुई एक वृक्ष के अंधेरे साये मे जा खड़ी हुई। कब इन लोगों को दया आती है किसी पर ! बेचारे महँगू को इतना मारा कि महीनो लहू थूकता रहा। इसीलिए तो कि उसने बेगार न दी थी। इस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं ?

कुएँ पर स्त्रियाँ पानी भरने आयी थी। इनमें बात हो रही थी ।

'खाना खाने चले और हुक्म हुआ कि ताजा पानी भर लाओ। घड़े के लिए पैसे नहीं हैं।'

'हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे मरदों को जलन होती है।'

'हाँ, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते। बस, हुकुम चला दिया कि ताजा पानी लाओ, जैसे हम लौंडियाँ ही तो हैं।'

'लौडिंयाँ नहीं तो और क्या हो तुम? रोटी-कपड़ा नहीं पातीं ? दस-पाँच रुपये भी छीन- झपटकर ले ही लेती हो। और लौडियाँ कैसी होती हैं!'

'मत लजाओ, दीदी! छिन-भर आराम करने को जी तरसकर रह जाता है। इतना काम किसी दूसरे के घर कर देती, तो इससे कहीं आराम से रहती। ऊपर से वह एहसान मानता ! यहाँ काम करते- करते मर जाओ; पर किसी का मुँह ही सीधा नहीं होता।'

दोनों पानी भरकर चली गयीं, तो गंगी वृक्ष की छाया से निकली और कुएँ की जगत के पास आयी। बेफिक्रे चले गऐ थे। ठाकुर भी दरवाज़ा बंद कर अंदर आँगन में सोने जा रहे थे। गंगी ने क्षणिक सुख की साँस ली। किसी तरह मैदान तो साफ़ हुआ। अमृत चुरा लाने के लिए जो राजकुमार किसी जमाने में गया था, वह भी शायद इतनी सावधानी के साथ और समझ-बूझकर न गया हो। गंगी दबे पाँव कुएँ की जगत पर चढ़ी, विजय का ऐसा अनुभव उसे पहले कभी न हुआ था।

उसने रस्सी का फंदा घड़े में डाला। दायें-बायें चौकन्नी दृष्टि से देखा जैसे कोई सिपाही रात को शत्रु के किले में

सुराख कर रहा हो। अगर इस समय वह पकड़ ली गयी, तो फिर उसके लिए माफी या रियायत की रत्ती-भर उम्मीद नहीं। अंत मे देवताओं को याद करके उसने कलेजा मज़बूत किया और घड़ा कुएँ में डाल दिया।

घड़े ने पानी में गोता लगाया, बहुत ही आहिस्ता। जरा भी आवाज़ न हुई। गंगी ने दो- चार हाथ जल्दी-जल्दी मारे। घड़ा कुएँ के मुँह तक आ पहुँचा। कोई बड़ा शहजोर पहलवान भी इतनी तेजी से न खींच सकता था।

गंगी झुकी कि घड़े को पकड़कर जगत पर रखे कि एकाएक ठाकुर साहब का दरवाज़ा खुल गया। शेर का मुँह इससे अधिक भयानक न होगा।

गंगी के हाथ से रस्सी छूट गयी। रस्सी के साथ घड़ा धड़ाम से पानी में गिरा और कई क्षण तक पानी में हिलकोरे की आवाजें सुनाई देती रहीं।

ठाकुर कौन है, कौन है ? पुकारते हुए कुएँ की तरफ आ रहे थे और गंगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी।

घर पहुँचकर देखा कि जोखू लोटा मुँह से लगाये वही मैला-गंदा पानी पी रहा है।

● **मुंशी प्रेमचंद**

सद्गति

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया, घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने-अपने काम से फुर्सत पा चुके थे, तो चमारिन ने कहा, 'तो जाके पंडित बाबा से कह आओ न। ऐसा न हो कहीं चले जायँ।'

दुखी—'हाँ जाता हूँ, लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर?'

झुरिया—'कहीं से खटिया न मिल जायगी ? ठकुराने से माँग लाना।'

दुखी—'तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि देह जल जाती है। ठकुराने वाले मुझे खटिया देंगे ! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे ! कैथाने में जाकर एक लोटा पानी माँगूँ तो न मिले। भला खटिया कौन देगा ! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं कि जो चाहे उठा ले जायँ। ले अपनी खटोली धोकर रख दे। गरमी के तो दिन हैं। उनके आते-आते सूख जाएगी।'

झुरिया—'वह हमारी खटोली पर बैठेंगे नहीं। देखते नहीं कितने नेम-धरम से रहते हैं।'

दुखी ने जरा चिंतित होकर कहा, 'हाँ, यह बात तो है। महुए के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाय। पत्तल में बड़े-बड़े आदमी खाते हैं। वह पवित्तर है। ला तो डंडा, पत्ते तोड़ लूँ।'

झुरिया—'पत्तल मैं बना लूँगी, तुम जाओ। लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा। अपनी थाली में रख दूँ ?'

दुखी—'कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाए और थाली भी फूटे ! बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी किरोध चढ़ आता है। किरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना, हाँ। मुदा तू छूना मत।'

झूरी—' गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आधा सेर चावल, पाव भर दाल, आधा पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायगा।'

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठाई और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पंडितजी से अर्ज करने चला। खाली हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता। नजराने के लिए उसके पास घास के सिवाय और क्या था। उसे खाली देखकर तो बाबा दूर ही से दुत्कारते। पं. घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासन में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आधा घण्टे तक चन्दन रगड़ते, फिर आईने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएं बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर

आ जाते ! ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी। आज वह पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिये बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दंडवत् करके हाथ बाँधकर खड़ा हो गया। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया ! कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चंदन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले—'आज कैसे चला रे दुखिया ?'

दुखी ने सिर झुकाकर कहा, 'बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन विचारना है। कब मर्जी होगी ?'

घासी—'आज मुझे छुट्टी नहीं। हाँ साँझ तक आ जाऊँगा।'

दुखी—'नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ?

घासी—'इस गाय के सामने डाल दे और जरा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे। यह बैठक भी कई दिन से लीपी नहीं गई। उसे भी गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर जरा आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा है। उसे भी उठा लाना और भुसौली में रख देना।'

दुखी फौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाड़ू लगाई, बैठक को गोबर से लीपा। तब बारह बज गये। पंडितजी भोजन करने चले गये। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी जोर की भूख लगी; पर वहाँ खाने को क्या धरा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने चला जाय, तो पंडितजी बिगड़ जायँ। बेचारे ने भूख दबाई और लकड़ी फाड़ने लगा। लकड़ी की मोटी-सी गाँठ थी; जिस पर पहले कितने ही भक्तों ने अपना जोर आजमा लिया था। वह उसी दम-खम के साथ लोहे से लोहा लेने के लिए तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाजार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता; पर उस गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँफता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था। हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था। अगर एक चिलम तम्बाकू पीने को मिल जाती, तो शायद कुछ ताकत आती।

उसने सोचा, यहाँ चिलम और तम्बाकू कहाँ मिलेगी। ब्राह्मनों का पूरा है। ब्राह्मन लोग हम नीच जातों की तरह तम्बाकू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड़ भी रहता है। उसके यहाँ जरूर चिलम-तमाखू होगी। तुरन्त उसके घर दौड़ा। खैर मेहनत सफल हुई। उसने तमाखू भी दी और चिलम भी दी; पर आग वहाँ न थी। दुखी ने कहा, आग की चिन्ता न करो भाई। मैं जाता हूँ, पंडितजी के घर से आग माँग लूँगा। वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी। यह कहता हुआ वह दोनों चीज़ें लेकर चला आया और पंडितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला, 'मालिक, रचिके आग मिल जाय, तो चिलम पी लें।'

पंडितजी भोजन कर रहे थे। पंडिताइन ने पूछा, 'यह कौन आदमी आग माँग रहा है?'

पंडित—'अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा, है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।'

पंडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा, 'तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रो के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूँगी। आग माँगने चले हैं।'

पंडितजी ने उन्हें समझाकर कहा, 'भीतर आ गया, तो क्या हुआ। तुम्हारी कोई चीज तो नहीं छुई। धरती पवित्र है। जरा-सी आग दे क्यों नहीं देती, काम तो हमारा ही कर रहा है। कोई लोनिया यही लकड़ी फाड़ता, तो कम-से-कम चार आने लेता।'

पंडिताइन ने गरजकर कहा, 'वह घर में आया क्यों !'

पंडित ने हारकर कहा, 'ससुरे का अभाग था और क्या !'

पंडिताइन—'अच्छा, इस बखत तो आग दिये देती हूँ, लेकिन फिर जो इस तरह घर में आयेगा, तो उसका मुँह ही जला दूँगी।'

दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं यह लोग, तभी तो संसार पूजता है, तभी तो इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई। इसलिए जब पंडिताइन आग लेकर निकलीं, तो वह मानो स्वर्ग का वरदान पा गया। दोनों हाथ जोड़कर जमीन पर माथा टेकता हुआ बोला, 'पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते।'

पंडिताइन चिमटे से पकड़कर आग लाई थीं। पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ आग फेंकी। आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर पर पड़ गयी। जल्दी से पीछे हटकर सिर के झोटे देने लगा। उसने मन में कहा, यह एक पवित्तर ब्राह्मन के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसी से तो संसार पंडितों से डरता है। और सबके रुपये मारे जाते हैं ब्राह्मन के रुपये भला कोई मार तो ले ! घर भर का सत्यानाश हो जाय, पाँव गल-गलकर गिरने लगे। बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाड़ी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाजें आने लगीं। उस पर आग पड़ गई, तो पंडिताइन को उस पर कुछ दया आ गई। पंडितजी भोजन करके उठे, तो बोलीं—'इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।'

पंडितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से दूर समझकर पूछा, 'रोटियाँ हैं ?'

पंडिताइन—'दो-चार बच जायँगी।'

पंडित—'दो-चार रोटियों में क्या होगा ? चमार है, कम से कम सेर भर चढ़ा जायगा।'

पंडिताइन कानों पर हाथ रखकर बोलीं, 'अरे बाप रे ! सेर भर ! तो फिर रहने दो।'

पंडितजी ने अब शेर बनकर कहा, 'कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्टा ठोंक दो। साले का पेट भर जायगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।'

पंडिताइन ने कहा, 'अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।'

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से जरा हाथों में ताकत आ गई थी। कोई आधा घण्टे तक फिर कुल्हाड़ी चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया। इतने में वही गोंड़ आ गया। बोला, 'क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गाँठ न फटेगी। नाहक हलाकान होते हो।'

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा, 'अभी गाड़ी भर भूसा ढोना है भाई !'

गोंड़—'कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके माँगते क्यों नहीं ?'

दुखी—'कैसी बात करते हो चिखुरी, ब्राह्मण की रोटी हमको पचेगी !'

गोंड़—'पचने को पच जायगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी बहुत मजूरी देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।'

दुखी—'धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें तो आफत आ जाय।'

यह कहकर दुखी फिर सँभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उस पर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छीन ली और कोई आधा घंटे खूब कस-कसकर कुल्हाड़ी चलाई; पर गाँठ में एक दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फेंक दी और यह कहकर चला गया तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाए।'

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पड़ती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सौ काम पड़े हैं। कार-परोजन का घर है, एक-न-एक चीज घटी ही रहती है; पर इन्हें इसकी क्या चिंता। चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ। कह दूँगा, बाबा, आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा। उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा। खलिहान यहाँ से दो फरलांग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भर कर लाता तो काम जल्द खत्म हो जाता; फिर झौवे को उठाता कौन। अकेले भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं भूसा खत्म हुआ। पंडितजी की नींद भी खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया और बाहर निकले। देखा, तो दुखी झौवा सिर पर रखे सो रहा है। जोर से बोले—'अरे, दुखिया तू सो रहा है ? लकड़ी तो अभी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। इतनी देर तू करता क्या रहा? मुट्ठी भर भूसा ढोने में सांझ कर दी ! उस पर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल। तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती। फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना ! इसी से कहा, है कि नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली।'

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठाई। जो बातें पहले से सोच रखी थीं, वह सब भूल गईं। पेट पीठ में धंसा जाता था, आज सबेरे जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना ही पहाड़ मालूम होता था। जी डूबा जाता था, पर दिल को समझाकर उठा। पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहे बिगाड़ दें। पंडितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गये और बढ़ावा देने लगे हाँ, मार कसके, और मार कसके मार अबे जोर से मार तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं है लगा कसके, खड़ा सोचने क्या लगता है हाँ बस फटा ही चाहती है ! दे उसी दरार में ! दुखी अपने होश में न था। न-जाने कौन-सी गुप्तशक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकान, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गई। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आधा घण्टे तक वह इसी उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक कि लकड़ी बीच से फट गई और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूटकर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।

पंडितजी ने पुकारा, 'उठके दो-चार हाथ और लगा दे। पतली-पतली चैलियाँ हो जायँ। दुखी न उठा। पंडितजी ने अब उसे दिक करना उचित न समझा। भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गये, स्नान किया और पंडिताई बाना पहनकर बाहर निकले ! दुखी अभी तक वहीं पड़ा हुआ था। जोर से पुकारा—'अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ। सब सामान ठीक-ठीक है न ? दुखी फिर भी न उठा।'

अब पंडितजी को कुछ शंका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पंडिताइन से बोले, 'दुखिया तो जैसे मर गया।'

पंडिताइन हकबकाकर बोलीं—'वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न ?'

पंडित—'हाँ लकड़ी चीरते-चीरते मर गया। अब क्या होगा ?'

पंडिताइन ने शान्त होकर कहा, 'होगा क्या, चमरौने में कहला भेजो मुर्दा उठा ले जायँ।'

एक क्षण में गाँव भर में खबर हो गई। पूरे में ब्राह्मणों की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोंड़ का था। लोगों ने इधर का रास्ता छोड़ दिया। कुएं का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय ! चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढ़िया ने पण्डितजी से कहा, अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं ? कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं। इधर गोंड़ ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया ख़बरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पंडितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़ जाओगे। इसके बाद ही पंडितजी पहुँचे; पर चमरौने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ, हाँ दुखी की स्त्री और कन्या दोनों हाय-हाय करती वहाँ चलीं और पंडितजी के द्वार पर आकर सिर पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके साथ दस-पाँच और चमारिनें थीं। कोई रोती थी, कोई समझाती थी, पर चमार एक भी न था। पण्डितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की; पर चमारों के दिल पर पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका। आखिर निराश होकर लौट आये।

आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया और ब्राह्मण चमार की लाश कैसे उठाते ! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है ? कहीं कोई दिखा दे। पंडिताइन ने झुँझलाकर कहा, 'इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली। सबों का गला भी नहीं पकता। पंडित ने कहा, रोने दो चुड़ैलों को, कब तक रोयेंगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था। मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब की सब आ पहुँचीं।'

पंडिताइन—'चमार का रोना मनहूस है।'

पंडित—'हाँ, बहुत मनहूस।'

पंडिताइन—'अभी से दुर्गन्ध उठने लगी।'

पंडित—'चमार था ससुरा कि नहीं। साध-असाध किसी का विचार है इन सबों को।'

पंडिताइन—'इन सबों को घिन भी नहीं लगती।'

पंडित—'भ्रष्ट हैं सब।'

रात तो किसी तरह कटी; मगर सबेरे भी कोई चमार न आया। चमारिनें भी रो-पीटकर चली गईं। दुर्गन्ध कुछ-कुछ फैलने लगी। पंडितजी ने एक रस्सी निकाली। उसका फन्दा बनाकर मुरदे के पैर में डाला और फन्दे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधलका था। पंडितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।

● **मुंशी प्रेमचंद**

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 7

मैं और मेरे भीतर का टकराव

उद्देश्य

हमारी पहचानों के कई स्तर हैं मसलन जातिगत, धार्मिक, लैंगिक, क्षेत्रीय आदि। उन पहचानों के कारण हम कई तरह के अनुभवों से रू-ब-रू होते हैं। यह अनुभव बुरे भी हो सकते हैं और अच्छे भी। इस अभ्यास के माध्यम से प्रतिभागियों को यह समझने में मदद मिलेगी कि समाज में जो तनाव व टकराव हैं उन तनाव-टकरावों से हम प्रभावित भी हैं और उन तनाव-टकरावों को हम प्रभावित भी करते हैं।

प्रक्रिया

- इस सत्र के लिए प्रतिभागियों को एक बड़े कमरे में बिठाएं ताकि वे सहज और आरामदायक स्थिति का अनुभव कर सकें।
- उन्हें अलग-अलग बैठने के लिए कहें
- कॉपी-कलम, मोबाइल, कैमरा आदि एक तरफ रखवा दिए जाएं।
- यह बहुत जरूरी है कि इस दौरान सहभागी आपस में बात न करें।

1. इस सत्र के दौरान फेसिलिटेटर अपने बोलने के लहजे और अंदाज़ का विशेष ख्याल रखे ताकि सहभागी इन बिंदुओं से जुड़ सकें।
2. चूंकि इस सत्र में प्रतिभागियों को अतीत से जोड़ने का प्रयास किया जाता है इसीलिए फेसिलिटेटर की संवाद अदायगी में प्रभावशीलता होना ज़रूरी है।
3. हर बिंदु स्पष्ट रूप से, स्पष्ट लहजे में और आवाज के उतार-चढ़ाव के साथ रखा जाए ताकि सहभागी आपके कहे गए चिंतन संबंधित बिंदु से जुड़ सकें।

- यह सत्र स्वैच्छिक है यदि कोई सहभागी इस सत्र का हिस्सा न बनना चाहे तो अभ्यास के दौरान ही किसी भी समय हाल से बाहर जा सकता/सकती हैं।
- यह स्पष्ट करना न भूलें कि यह चिंतन-मनन पूरी तरह से उन्हीं के लिए हैं, आपकी इच्छा के बिना आपकी भावनाओं की जानकारी किसी को भी नहीं होगी।
- सत्र के दौरान पूरी जगह का इस्तेमाल करें और फेसिलिटेटर को अपनी बात को स्पष्ट करते हुए लगातार घूमते रहना चाहिए। प्रत्येक बिंदु पर सोचने के लिए सहभागियों को पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए। ताकि सभी प्रतिभागियों तक बात स्पष्ट रूप से पहुंचे।

विचार-विमर्श की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद उन्हें कहें कि अभ्यास पूरा हो चुका है। अब वे चाहें तो अपनी जगह पर ही बैठे रहें या जहाँ इच्छा हो (कार्यशाला स्थल के अंदर ही) चले जाएँ। और अगला अभ्यास शुरू करने से पहले सहभागियों को कम से कम डेढ़ से दो घंटे का समय ज़रूर दें।

समय

02:30 से 03:00 घंटे

चिंतन-मनन प्रक्रिया के लिए बिंदु

- **पहली बार आपको कब लगा कि आपकी एक खास पहचान है ?**
- यानि आप किसी खास जाति, धर्म या समुदाय से संबंध रखते हैं।
- आप कब/किस उम्र में अपनी इस पहचान से जुड़ाव महसूस करने लगे।
- वह कौन-सी घटना थी जिसकी वजह से आपको अपनी इस पहचान का अहसास हुआ ?
- यह अहसास आपको कैसा लगा था और आपकी क्या प्रतिक्रिया थी ?

हो सकता है आप धीरे-धीरे अपनी जातीय, धार्मिक या सामुदायिक पहचान से गहरा लगाव महसूस करने लगे।

- **इस लगाव के पीछे क्या कारण थे ?**
- क्या आपके व्यवहार में भी यह लगाव दिखता था ?

- **किसी खास समुदाय से ताल्लुक रखने के कारण क्या आपको कभी गर्व महसूस हुआ ?**
- आपको ऐसा क्यों महसूस हुआ ?
- अपने गर्व के अहसास को आपने किस तरह अभिव्यक्त किया ?

- **क्या आपको कभी इस बात पर शर्मिंदगी या हीनता महसूस हुई कि आप इस खास समुदाय में क्यों पैदा हुए ?**
- आपको ऐसा क्यों लगा ?
- इस शर्मिंदगी को आपने किस तरह अभिव्यक्त किया ?

- **क्या आपको कभी किसी और समुदाय की तरफ से अपमान का अहसास हुआ है ?**
- आपको ऐसा अहसास क्यों हुआ ?
- आपने किस तरह से प्रतिक्रिया दी ?
- क्या आपने यह समझने की कोशिश की कि ऐसा क्यों हुआ ?

- **क्या कभी किसी दूसरे समुदाय के लिए आपने कोई दूरी या नफरत महसूस की ?**
- आपमें दूसरे समुदाय के प्रति यह दूरी या नफरत क्यों पैदा हुई ?
- तब आपने क्या किया ?
- क्या उस समय आप उग्र प्रतिक्रिया देना चाहते/चाहती थीं ?
- किस चीज ने आपको उग्र प्रतिक्रिया देने से रोका ?

- **क्या आपको कभी किसी और समुदाय के लिए भी हमदर्दी महसूस हुई ?**
- आपके मन में हमदर्दी की यह भावना क्यों आई ?
- तब आपकी प्रतिक्रिया क्या रही ?

फेसिलिटेटर नोट

यह अभ्यास बहुत नाजुक और संवेदनशील किस्म का है। इसमें कई भावनात्मक आयाम हैं। यह अभ्यास सहभागियों को जज्बाती तौर पर झिंझोड़ता है। कई बार उन्हें परेशानी भी महसूस होने लगती है। किसी के लिए भी अपनी यादों की दुनिया में वापस लौटना और अपनी जिंदगी के सबसे संवेदनशील और परेशान करने वाले अनुभवों पर गौर करना हमेशा आसान नहीं होता। अनुभवों से पता चलता है कि अगर सही माहौल बनाए बिना इस अभ्यास को किया जाए तो यह बहुत नुकसानदेह साबित हो सकता है। अगर फेसिलिटेटर और सहभागियों के बीच तथा विभिन्न सहभागियों के बीच परस्पर विश्वास का वातावरण न बना हो तो मुमकिन है कि कई सहभागी इस अभ्यास के दौरान सबके साथ बैठने में भी हिचकिचाने लगें। इस अभ्यास के पहले और इसके दौरान ध्यान में रखने वाली कुछ चीजें हमने नीचे दी हैं।

अभ्यास से पहले

इस अभ्यास के लिए जिस जगह का इस्तेमाल कर रहे हैं वह अन्य अभ्यासों तथा प्रक्रियाओं के लिए इस्तेमाल होने वाली जगह से अलग होनी चाहिए। हमारी सलाह है कि इस अभ्यास के लिए कोई बड़ा हॉल या ऐसी ही कोई बड़ी जगह चुनी जाए जिसमें सहभागियों को अपने लिए पर्याप्त जगह मिल जाए और वे सहज ढंग से बैठ कर सोच-विचार कर सकें। जिस जगह को चुना गया है वहां कोई फर्नीचर न हो तो बेहतर होगा। सहभागियों को मर्जी के मुताबिक जहां चाहे फर्श पर बैठने की छूट दी जाए। हॉल में रोशनी बहुत तेज न हो तो अच्छा रहेगा। कई बार फेसिलिटेटर इसी तरह के अभ्यास के दौरान हल्का-फुल्का संगीत भी बजा देते हैं। अगर फेसिलिटेटर संगीत का इस्तेमाल करना चाहते हैं तो संगीत बहुत कोमल होना चाहिए ताकि उससे लोगों की सोचने की प्रक्रिया में खलल न पड़े। इसका मक़सद है कि सहभागियों को एक आरामदेह और भयमुक्त माहौल मिले। गायन संगीत की बजाय वादन पर आधारित यानी वाद्य संगीत होना चाहिए। फेसिलिटेटर को खयाल रखना चाहिए कि सहभागी एक-दूसरे से थोड़े फासले पर बैठें। उनके इर्द-गिर्द पर्याप्त खुली जगह उपलब्ध हो। जैसा कि इस अभ्यास के प्रक्रिया वाले भाग में बताया जा चुका है, इस प्रक्रिया में कागज और कलम बाधा पैदा करते हैं इसलिए सहभागियों को इस अभ्यास के लिए चुनी गई जगह पर ले जाने से पहले यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उनके लिखने के सारे उपकरण अलग रख दिए गए हैं।

अभ्यास के दौरान

सहभागियों को किसी तरह का भय या चिंता महसूस नहीं होनी चाहिए और उन्हें इस अभ्यास के बारे में किसी तरह का संशय न हो। संदर्भ स्पष्ट करते हुए फेसिलिटेटर को यह जाहिर कर देना चाहिए कि अभ्यास में जो बातें उठायी जायेंगी वे समाज के साथ अपने रोजमर्रा संपर्कों में हमारे सामने पेश आने वाली समस्याओं के बारे में ही होंगी। उन्हें इन बिंदुओं को व्यक्तिगत रूप से नहीं लेना चाहिए। सोच-विचार के लिए बिंदुओं का उल्लेख करते हुए फेसिलिटेटर को न तो बहुत जल्दबाजी दिखानी चाहिए और न ही इतनी सुस्ती कि सहभागियों की दिलचस्पी खत्म होने लगे। इस प्रसंग में फेसिलिटेटर को पता होना चाहिए कि किसी खास बिंदु पर कितना समय जरूरी होता है।

और अंत में, आवाज में उतार-चढ़ाव भी बहुत महत्वपूर्ण है। विभिन्न बिंदुओं के स्वरूप और उनसे जुड़ी भावनाओं को ध्यान में रखते हुए फेसिलिटेटर को अपनी आवाज में उतार-चढ़ाव लाना चाहिए। उसे अपनी आवाज में जोर या कोमलता का ध्यान रखना चाहिए। इसलिए फेसिलिटेटर इन बिंदुओं को अकेले में बोलने का अभ्यास अवश्य करें।

अभ्यास के बाद

हालांकि यह सत्र सहभागी की अंतर्यात्रा है पर फिर भी ऐसा हो सकता है कि कोई सहभागी बड़े समूह में अपना कोई अनुभव या यादें साझा करना चाहे। इसके लिए फेसिलिटेटर उपयुक्त माहौल तैयार करें। ध्यान रहे कि यह बेहद संवेदनशील अनुभव हैं जो तकलीफदेह भी हो सकते हैं तो इन पर किसी प्रकार की चर्चा या विश्लेषण उचित नहीं होगा।

नोट्स

अभ्यास 8

साझी विरासत की उपयोगिता

⊙ उद्देश्य

तनाव व टकरावग्रस्त समाजों में एकता और सद्भाव के अस्त्र के रूप में साझी विरासत की उपयोगिता पर समझ विकसित करना।

प्रक्रिया

- छोटे समूह में चर्चा (क्षेत्रवार समूह)।
- प्रस्तुतिकरण।
- फेसिलिटेटर द्वारा इनपुट

चर्चा के बिंदु

- कोई ऐसा अनुभव जिसमें साझी विरासत के किसी रूप ने टकराव या संघर्ष की स्थिति में जोड़े रखने का कार्य किया हो।
- कोई ऐसा अनुभव जिसमें साझी विरासत को बचाने के लिए संघर्षरत समुदाय एक हुए हों।
- कोई ऐसा अनुभव जिसके अंतर्गत विभिन्न समुदायों ने मिलजुल कर साझी विरासत को बचाने और प्रचारित-प्रसारित करने का कार्य किया हो।

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्केच पेन, टेप

समय

03:00 घंटे

फेसिलिटेटर नोट

सहभागी विभिन्न पृष्ठभूमियों से भिन्न-भिन्न अनुभव लेकर आते हैं। इसलिए संभव है कि सहभागी साझी विरासत के अलग-अलग पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। लेकिन यह तय है कि सहभागी जो भी चिन्तन-मनन द्वारा याद करेंगे, फेसिलिटेटर द्वारा चार्ट पर उतारे गए बिंदुओं के जवाब उनके पास अवश्य होंगे। संभव है सहभागी भिन्न अनुभव के लिए साझी विरासत के भिन्न रूपों-पक्षों को याद करें क्योंकि एक ही रूप तमाम परिस्थितियों में प्रभावी नहीं होगा। उदाहरण के लिए, किसी को संघर्षरत समुदाय के किसी साझी विरासत के उत्सव में शरीक होने का अनुभव हो सकता है, तो किसी के पास दूसरे समुदाय से निकटता से जुड़ी साझी विरासत के पक्ष में, दूसरे समुदाय के खड़े होने का अनुभव हो सकता है। दोनों अनुभव एक दूसरे से भिन्न हों इसकी पूरी संभावना हो सकती है। सहभागियों का भिन्न रूपों का अनुभव एक तरह से अच्छा है। इससे उन्हें साझी विरासत के अनेक रूपों के ऐसे अनेक अनुभवों से साक्षात्कार करने का अवसर मिलता है जो संघर्षरत समाजों में शांति और एकता कायम करते हैं।

फेसिलिटेटर को याद रखना चाहिए कि यह अभ्यास आगामी कार्यनीति योजनाओं के लिए नींव का काम करेगा। जब सहभागी जमीनी स्तर की स्थितियों का मुकाबला करने के लिए कार्यनीति बनाने का कार्य करने बैठेंगे तब इस अभ्यास में प्रस्तुत किये गये अनुभवों की स्मृतियां उन्हें अपनी योजनाएं बनाने में मदद करेंगी। कुछ ऐसे अनुभव भी हो सकते हैं जिसमें साझी विरासत ने ही दो समुदायों में दूरियां बढ़ाने का कार्य किया हो। विभिन्न समुदायों को संघर्षरत किया हो। फेसिलिटेटर को चाहिए कि वह ऐसे अनुभव वाले सहभागियों से उनके अनुभवों को पूरी तरह से स्पष्ट करने का अनुरोध करे। इस बात की पूरी संभावना है कि चर्चा के दौरान ऐसे सहभागियों की राय बदलने लगेगी। वे इस बात से सहमत होने लगेंगे चूंकि साझी विरासत समाज में अमन और शांति न चाहने वालों के लिए एक अड़चन थी, इसलिए उन्होंने लोगों में दूरियां बनाने के साधन के रूप में इसका इस्तेमाल किया। सच यह है कि लगभग हर जगह यही होता है। अमन और शांति के विरोधी अपने तुच्छ हितों के लिए समुदायों के बीच मौजूद सौहार्द की प्रतीक साझी विरासत को ही अपना निशाना बनाते हैं। चूंकि, सभी समाजों में, साझी विरासतें ही लोगों में संबंध बनाती हैं, इसलिए ये ताक़तें सबसे पहले उन्हें ही अपना निशाना बनाती हैं। यदि फेसिलिटेटर इस स्थापना को प्रतिभागियों के मस्तिष्क में संप्रेषित कर पाता है तो इससे न केवल इस विषय के प्रति प्रतिभागियों में संवेदना विकसित होगी बल्कि उनमें साझी विरासत की रक्षा करने व उसे विकसित करने की भावना भी जाग्रत होगी। वे संघर्षरत सामाजिक समूहों में एकता और अमन शांति के औज़ार के रूप में इसका इस्तेमाल करने लगेंगे। यदि इस अभ्यास से वांछित परिणाम मिलते हैं तो अमन, शांति और एकता कायम करने की कार्यनीति बनाने के अगले अभ्यास में सहभागियों की रुचि और उत्साह देखने लायक होगा। वे जो भी कार्यनीति बनायेंगे, उसे जमीनी स्तर पर लागू करने के लिए प्रेरित भी होंगे।

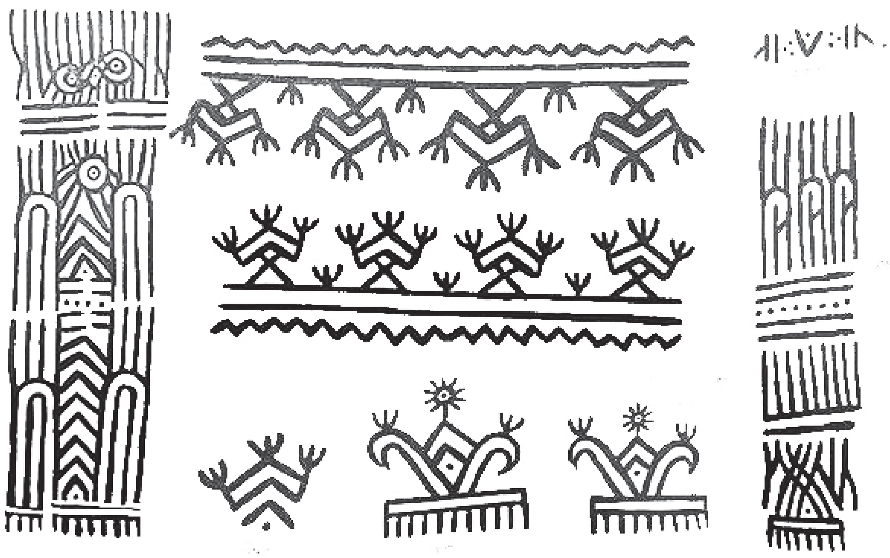

उदाहरण

- गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) — कई दशक पहले से सावन के महीने में नागपंचमी पर्व के अवसर पर जनपद गाजीपुर के ग्रामसभा राजापुर में बहुत बड़े मेले का आयोजन किया जाता रहा है। जिसमें हर वर्ग, जाति व धर्म के लोग मनोरंजन व व्यवसायिक दृष्टि से जाया करते थे। जिसमें दूसरा पड़ोसी गांव कारीमुद्दीनपुर भी भाग लेता था। परंतु स्थानीय तनावों के चलते (किसी व्यवसायिक व्यक्ति की ईर्ष्या के कारण) दोनों गांवों के बीच में दो मेलों का आयोजन होने लगे। कुछ स्थानीय लोगों को बहुत बुरा लगा क्योंकि वे तय नहीं कर पाते थे कि किस मेले में जाएं। दोनों मेलों में आने वाले व्यक्ति उनके अपने ही तो थे। इस बात से व्यथित लोगों ने आपसी बातचीत के लिए दोनों समूहों से पहल की और उसका नतीजा भी काफी सकारात्मक रहा। दोनों पक्षों की आपसी सहमति से पुन: मेले का आयोजन पुरानी जगह पर किया गया और सभी लोग इस निर्णय से काफी खुश हुए।
- बघेलखंड (मध्य प्रदेश) — मध्य प्रदेश के सतना जिले के एक गाँव में 2007 के पंचायत चुनाव के समय का किस्सा है। गाँव की सीट अन्य पिछड़े वर्गों (ओ.बी.सी.) के लिए आरक्षित थी। ओ.बी.सी. में पटेल जाति के लोगों का बहुमत था। ब्राह्मण समुदाय ने अपनी तरफ से नाई जाति के व्यक्ति को चुनाव लड़वाया। नतीजा यह हुआ कि ओ.बी.सी. समुदाय आपस में बँट गया। चुनाव के बाद ब्राह्मण और पटेल समुदाय के बीच तनाव बढ़ता ही चला गया। यहाँ तक कि दोनों समुदायों में बातचीत के रिश्ते भी खत्म हो गये। दोनों समुदायों ने त्यौहार भी साथ मनाना छोड़ दिया। ऐसी परिस्थिति में तनाव खत्म करने के लिए कुछ लोगों ने एक कारगर रणनीति बनाई। दोनों ही समुदायों को फाग गाने के लिए एक जगह बुलाया—(फाग, होली के त्यौहार पर गाई जाने वाली लोक शैली है)। दोनों ही समुदाय एक-दूसरे के साथ आने को तैयार नहीं थे। लेकिन धीरे-धीरे बर्फ पिघली और उन्होंने सारी रात साथ में फाग गाया। तनाव के पहले दोनों समुदाय के युवा साथ क्रिकेट खेलते थे और प्रतियोगिताओं के सिलसिले में साथ सफर करते थे लेकिन तनाव के बाद यह रिश्ते भी टूट गये थे। फाग गाने की उस रात के बाद संबंधों के बहाल होने का सिलसिला शुरू हो गया।
- झारखंड — झारखंड के खूंटी जिले के एक गांव में दो अलग-अलग समुदायों के लोग रहते थे। दोनों के बीच बहुत ही तनावपूर्ण रिश्ते थे। किसी वजह से तनाव अपने चरम पर था। इसी दौरान बारिश शुरू हुई। तब उस गांव के लोग लड़ाई को बखूबी चला सकते थे लेकिन नहीं चलाई। क्योंकि उसका मतलब था साल भर की खेती से हाथ धो बैठना। क्योंकि अगर आपस में हल-बैल या खेती के औजारों का साझा नहीं होता तो किसी की खेती नहीं हो पाती। और खेती न करना afford नहीं किया जा सकता था। क्योंकि वही जीवन-यापन है। तो वह सारी लड़ाई रातों-रात समाप्त हो गई बारिश की शुरुआत से।
- हिमाचल प्रदेश में नाटी मुख्य लोकनृत्य है। किसी भी खुशी के मौके पर स्त्री-पुरुष मिलकर नाटी करते हैं। बाहु-भूमिया नाम के दो गाँवों में देवली को लेकर आपसी झगड़ा हो गया था और गाँव के लोगों में आपसी संवाद बंद हो गया था। लेकिन उसके बावजूद लोग नागणी के मेले में आए। दोनों गाँवों के लोग अपने से एक-दूसरे से बातचीत करने से कतरा रहे थे लेकिन जब मेले का मुख्य आकर्षण नाटी शुरू हुई तो लोग धीरे-धीरे एक दूसरे के करीब आने लगे और तनाव धीरे-धीरे विलीन हो गया।
- झारखंड — कोयलकारो संघर्ष — झारखंड में आदिवासी व मूलवासियों के बीच हमेशा संघर्षमय स्थित रहती है। परंतु कोयलकारो नदी दोनों की ही साझी विरासत रही है। जब इस पर बांध बनाने की योजना आयी तो इसके नकारात्मक पक्ष को देखते हुए इसकी रक्षा के लिए दोनों संघर्षरत समुदाय करीब ही नहीं आए बल्कि दोनों समुदायों ने मिलकर परियोजना के खिलाफ संघर्ष किया, इस प्रकार दो संघर्षरत समुदाय एक-दूसरे के करीब आए।
- झारखंड — गिरीडीह जिले के पंचम्बा शहर में मेले का आयोजन बहुत पहले से होता चला आ रहा है। यह मेला छठ पर्व के दूसरे दिन से आठ दिनों तक चलता है। जिसमें सभी समुदायों के लोग शामिल होते है। एक साल सांप्रदायिक दंगा हुआ, जिसमें हिंदु व मुस्लिम दोनों कौम के कुछ लोग मारे गए। जिस कारण मेला व्यवस्थापक व प्रशासन ने मेला नहीं लगाने का फैसला किया। यह खबर फैलने के बाद दोनों कौम के लोग मिलकर मेला लगाने के लिए आगे आए और मिलकर दोनों कौमों की अगुआई में प्रशासन को साथ लेकर मेले का आयोजन किया गया। मेला सफल रहा साथ ही दोनों कौमों की ज़ख्मों पर भी मरहम-पट्टी लगी।

चर्चा के बिंदु

- आपकी जानकारी में साझी विरासत का कोई ऐसा रूप या पक्ष जिसने सामाजिक तनाव-टकराव की स्थिति में समाज को जोड़े रखने का कार्य किया हो।
- ऐसा अनुभव जिसमें संघर्षरत समुदायों के बीच साझी विरासत के किसी रूप या पक्ष ने सौहार्द कायम करने का कार्य किया हो।
- ऐसा अनुभव जिसमें किसी साझी विरासत को बचाने के लिए संघर्षरत समुदाय एक दूसरे के करीब आये हों।
- ऐसा अनुभव जिसमें संघर्षरत समुदाय किसी साझी विरासत के जश्न में एक साथ शामिल हुए हों।
- कोई ऐसा अनुभव जिसमें एक समुदाय के लोग एक ऐसी साझी विरासत के बचाव में उठ खड़े हुए हों जो दूसरे समुदाय से अधिक जुड़ी हो।
- कोई ऐसा अनुभव जिसके अन्तर्गत विभिन्न समुदायों ने मिलजुल कर साझी विरासत को बचाने और प्रचारित-प्रसारित करने का कार्य किया हो।
- कोई ऐसा अनुभव जिसमें साझी विरासत के किसी रूप या पक्ष ने ही लोगों के बीच दरार पैदा कर दी हो। यदि ऐसा हुआ है, तो लोगों को एक दूसरे के खिलाफ़ खड़ा करने व भड़काने में किन ताक़तों का हाथ था़
- कोई ऐसा अनुभव जिसमें लोगों ने संयुक्त रूप से, साझी विरासत को झगड़े की जड़ बनाने और लोगों को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा करने के प्रयासों को समाप्त किया हो।

प्रशिक्षकों और कार्यकर्ताओं के लिए हैंडबुक के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त बिंदु दिए गए थे। फेसिलिटेटर चाहे तो इन बिंदुओं को परिस्थिति अनुसार इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र है।

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 9

साझी विरासत पर खतरे

⊙ **उद्देश्य**

यह रेखांकित करना कि हमारी साझी विरासत को किनसे और कैसे खतरे हैं?

प्रक्रिया

- फेसिलिटेटर अभ्यास के उद्देश्यों को रेखांकित करे।
- क्षेत्र के आधार पर समूह निर्माण किया जाए क्योंकि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अलग-अलग खतरे और उन खतरों के पीछे अलग-अलग ताकतें हो सकती हैं?
- फेसिलिटेटर को स्पष्ट करना होगा कि इस अभ्यास का मकसद सिर्फ यह पता लगाने तक सीमित नहीं है कि हमारी साझी विरासत को किस तरह के खतरे पैदा हो रहे हैं, बल्कि हमें इस बात का भी पता लगाना है कि उनके पीछे किन ताकतों का हाथ है।
- प्रस्तुतिकरण।
- बड़े समूह में चर्चा

चर्चा के बिंदु

- साझी विरासत के किन-किन रूपों पर खतरे मंडरा रहे हैं?
- साझी विरासत पर मंडराने वाले खतरे कैसे हैं?
- साझी विरासत को ये खतरे किनसे हैं?

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्केच पेन, टेप

समय

02:00 घंटे

फेसिलिटेटर नोट

इस अभ्यास के दो पहलू हैं। पहला, हमारी साझी विरासत पर किस प्रकार के ख़तरे मंडरा रहे हैं और दूसरा, इन ख़तरों के पीछे कौन सी ताक़तें कार्य कर रही हैं। तमाम अभ्यासों के पश्चात सहभागियों के लिए ख़तरों की प्रकृति और उन खतरों के पीछे छुपी हुई ताक़तों को पहचानना मुश्किल नहीं होगा। उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए फेसिलिटेटर को स्पष्ट करना चाहिए कि समूह प्रस्तुतिकरण के तीन कॉलम बनाएं। पहले कॉलम में साझी विरासत के उन रूपों का उल्लेख किया जाए जिन पर खतरे मंडरा रहे हैं, दूसरे कॉलम में विभिन्न ख़तरों का उल्लेख किया जाए और तीसरे कॉलम में साझी विरासतों के खतरों के पीछे कार्य करने वाली ताक़तों तथा कारणों का उल्लेख हो। फेसिलिटेटर को हर प्रकार के ख़तरों और उनके पीछे खड़ी ताक़तों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिए जिससे सहभागियों को सही दिशा मिल सके। सहभागियों के लिए यह कहना आसान होगा कि कट्टरपंथी ताक़तें ही हमारी साझी विरासत को नष्ट व भ्रष्ट करने में लगी हैं। वे ही कारण और कारक दोनों हैं। लेकिन इसमें बहुत से तथ्यों, जैसे उदासीनता, लापरवाही, गैर-जिम्मेदारी, साझी विरासत का अनादर आदि तथ्य छूट सकते हैं। ये तथ्य इस बात को दर्शाते हैं कि कहीं न कहीं हम जैसे कार्यकर्ता भी अपनी साझी विरासतों का नुकसान करते हैं। यह बड़े दुख की बात है। जाने, अनजाने में हम स्वयं साझी विरासतों के लिए ख़तरा बन जाते हैं। इसके लिए खुद को दोष देना, अमन व शांति की प्रतीक साझी विरासतों को नष्ट करने की जिम्मेदारी लेना, हिम्मत का काम है।

साझी विरासत के सभी रूप, वैश्विक स्तर पर होने वाली उथल-पुथल के सीधे शिकार हो रहे हैं। प्रत्येक नयी प्रणाली अपने साथ अपना बाह्य-ढांचा और संस्कृति लेकर आती है। अंततः यह ढांचा और संस्कृति उस प्रणाली की जीवन-रेखा बन जाते हैं। पहले पूंजीवाद ने और अब हाल के आर्थिक वैश्वीकरण ने अपने हित के लिए उपभोक्तावादी संस्कृति तैयार की है। उसके लिए उन विरासतों और संस्कृतियों का, जो हमारी जीवन रेखा थीं, कोई महत्व नहीं है। वर्तमान में, साझी विरासत के कुछ तत्वों को सामंती संस्कृति या सामंती संस्कृति के अवशेष घोषित कर सुनियोजित तरीके से मिटाने की कोशिशें की जा रही हैं। आजकल समाज में हर दिन किसी नये त्यौहार की खबर सुनने को मिलती है। ये ऐसे त्यौहार हैं जिनके बारे में पहले कभी नहीं सुना था। कितने सारे ऐसे लोग हैं जिन्होंने 15 वर्ष पूर्व वैलेन्टाइन डे के बारे में सुना था। नये त्यौहार अच्छे हैं या बुरे इसके बारे में हम कुछ नहीं कहना चाहते। सवाल रोज-ब-रोज कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ने वाले इन त्यौहारों का मूल्यांकन करने की आवश्यकता नहीं। यहां सवाल है कि क्या ये त्यौहार, हमारे सदियों पुराने त्यौहारों का जिसमें विभिन्न वर्गों के लोग, जाति, धर्म की सीमाओं को तोड़कर शिरकत करते थे, की जगह तो नहीं ले रहे। सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों में हमारी लोक-कलाओं पर बार-बार हमले हुए लेकिन हमारी लोक-कलाएं फिर भी जीवित रहीं। उसकी सुगंध आज भी लाखों-लाख लोगों के दिलों में बसी है। लोक-कलाएं आज भी उतनी ही जीवन्त हैं जितनी वह सदियों पहले थीं। हमारे कला-रूपों पर नये कला रूपों का कब्जा लोक-कला के साथ-साथ हमारी व्यवस्था के लिए भी ख़तरा है। यह कोई प्राकृतिक आपदा नहीं बल्कि सुनियोजित और कृत्रिम आपदा है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समय के साथ कुछ रूप अपनी भूमिका निभा कर प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसलिए, हम उसको, जो काल के गर्त में समा गये हैं, पुनः पैदा नहीं कर सकते। ऐसा प्रयास हुआ तो लोग उससे नहीं जुड़ेंगे। इसलिए, जो कुछ विद्यमान है वही हमारी साझी विरासत है। इस पर आने वाले सभी ख़तरों का मुकाबला करना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि हम इस बात को जानें कि हमारी साझी विरासत पर कौन से ख़तरे विद्यमान हैं और उन ख़तरों के पीछे कौन सी ताक़तें काम कर रही हैं तथा जिम्मेदार हैं।

नोट 1 : मुद्दे पर और बेहतर समझ बनाने के लिए फेसिलिटेटर पठन सामग्री 1, 2, 3, 4 व 5 (पेज नं 92 व 103) पढ़ें।

नोट 2 : Film : Poison on the Platter, Story of Stuff etc.

वैश्वीकरण और मीडिया :
संस्कृति एवं साझी विरासत पर असर

मीडिया को हम अखबार, रेडियो प्रसारण और टेलीविजन जैसे संचार माध्यमों के समुच्चय के रूप में देखते हैं। मास मीडिया (जन माध्यम) की विषयवस्तु—(मनोरंजन, समाचार, शैक्षणिक कार्यक्रम, विज्ञापन, विभिन्न प्रकार की छवियों के निर्माण)—से 'सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैधानिक एवं नैतिक ताने-बाने की स्थिरता या अस्थिरता' पर गहरा असर पड़ता है। सवाल यह है कि वे कौन से तत्व हैं जो मीडिया को कुशल बनाते हैं और वे कौन से हालात हैं जिनकी वजह से मीडिया का सामाजिक प्रभाव पैदा होता है। इसकी व्याख्या तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण की प्रक्रिया के दायरे में ढूंढी जानी चाहिए। हालांकि सतही तौर पर दोनों के बीच संबंध भले न दिखता हो लेकिन ये दोनों बातें एक-दूसरे से गहरे तौर पर जुड़ी हुई हैं। अलग-अलग चलते हुए भी मीडिया और वैश्वीकरण दोनों एक-दूसरे से खुराक पाते हैं और दोनों मिलकर इंसानी अस्तित्व पर गहरा असर डाल रहे हैं। दोनों के बीच एक दिलचस्प समानता है। दोनों ही ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो तभी से चली आ रही हैं जबसे मनुष्य ने सामाजिक समूहों में जीना शुरू किया था। शुरुआत में ये प्रक्रियाएं बहुत धीमी और छोटी थीं। उन्हें पकड़ पाना मुश्किल था। लेकिन, अगर वैश्वीकरण को 'एकीकरण और घुलने-मिलने' की प्रक्रिया माना जाता है तो अलग-थलग रहने वाले कबीले भी प्राचीन काल से कमोबेश यही करते आ रहे हैं। ये कबीले समय-समय पर विचार-विमर्श के लिए इकट्ठा होते हैं। नए अवसरों की तलाश में कारोबारी समुदाय दूर-दूर तक आते-जाते हैं। अपने धार्मिक विश्वासों को फैलाने के लिए धर्मप्रचारक महाद्वीपों की सीमाएं पार कर जाते हैं। योद्धा कबीलों के लोग नित नई फतह के लिए नए-नए इलाकों में जाते हैं। ये सभी अलग-अलग समुदायों के परस्पर एकीकरण की प्रक्रियाएं हैं। संचार एवं आर्थिक गतिविधियों से पैदा होने वाली बाधाओं के बावजूद स्थानीय से क्षेत्रीय और क्षेत्रीय से राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया चलती रहती थी। इसी तरह का एकीकरण आज राष्ट्रीय से वैश्विक दिशा में होता दिखाई देता है।

संगीत, शायरी, नृत्य नाटिकाएं, धार्मिक व नैतिक विचार, चित्रकारी, ड्रामा, वास्तुशिल्प और दस्तकारी को मनुष्य की सांस्कृतिक रचनाओं में शुमार किया जाता है। लेकिन पहले इनके संचार और प्रसार के माध्यम बहुत कम थे। जो थे वे भी मुख्य रूप से मौखिक माध्यम थे। जाहिर है भौगोलिक और सामाजिक दृष्टि से उनकी पहुंच बहुत कम थी। फलस्वरूप बेहिसाब सांस्कृतिक विविधता पैदा हुई। यह इस बात का परिणाम था कि ज्यादातर समुदाय एक-दूसरे से कटे हुए थे और प्रभावी संचार का कोई साधन उनके पास नहीं था। पूरे मानव इतिहास में दूर तक जाने और ज्यादा से ज्यादा लोगों से ताल्लुक कायम करने की कोशिशें या तो शांतिपूर्वक संपन्न हुई हैं या भीषण हिंसा के रास्ते परवान चढ़ी हैं। **जब लोग एक-दूसरे के संपर्क में होते हैं—खासतौर से प्रत्यक्ष निजी संपर्क में—तो वे कुछ साझा अर्थों, साझा परिभाषाओं, साझा मूल्यों को अपनाने लगते हैं। उनके बीच भावनात्मक बंधन एवं सामाजिक सत्ता पुख्ता होने लगती है।** जन माध्यम भी साझा अनुभवों के आदान-प्रदान के जरिए श्रोताओं को समूह के नजदीक लाने की कोशिश करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए ये माध्यम संचार की ऊपर से नीचे की दिशा में संचार की कार्यनीति अपनाते हैं। उसमें आमने-सामने या क्षैतिज संचार की गुंजाइश नहीं होती।

यहाँ पल भर ठहर कर, 'संस्कृति' की सोच को जांचना-परखना जरूरी है। संस्कृति एक जटिल परिघटना है। इसकी कोई एक परिभाषा देना आसान नहीं होगा। बहरहाल, मोटे तौर पर इसका आशय समाज के सदस्य की हैसियत से मनुष्य द्वारा

ग्रहण की गई 'क्षमताओं और आदतों' (ई. बी. टेलर, प्रिमिटिव कल्चर) से होता है। संस्कृति किसी भी तरह की अस्त-व्यस्तता और टकरावों के समय कवच का काम करती है। ज्ञान प्रणालियां, भाषाएं, विचार, मान्यताएं, रीति-रिवाज, संहिताएं, धर्म, नैतिकता, संस्थान, परिवार, कानून, कलाकृतियां और ऐसी हर चीज संस्कृति की परिधि में आती है जिसके जरिए मनुष्य जीता है और अपने अस्तित्व को नियंत्रित करता है। संस्कृति में एक संक्रामक गुण होता है। **सांस्कृतिक गुणों/खासियतों को लोग एक-दूसरे से फौरन अपना लेते हैं। क्योंकि संस्कृति के सभी तत्व एक-दूसरे से जुड़े होते हैं इसलिए किसी सांस्कृतिक व्यवस्था में मामूली सा भी बदलाव आने पर अन्य सांस्कृतिक प्रणालियों पर भी गहरे असर पड़ते हैं।** दीदेरॉ, रूसो, काँट, मैथ्यू आर्नल्ड आदि मानवतावादी विचारकों के मुताबिक संस्कृति प्राकृतिक, जैविक, रचनाशील, और सच्ची भी हो सकती है और वह कृत्रिम, यांत्रिक, रूढ़, सतही, दासभावी, मस्तिष्कहीन, भ्रष्ट और अलगावग्रस्त भी हो सकती है। एक क्षण के लिए विषयांतर करें तो यहां यह कहा जा सकता है कि यह ऐसे गुणों का पहला समूह है जो साझी विरासत की अवधारणा के निकट पहुंचता है। रेमंड विलियम्स (कल्चर एंड सोसायटी, 1780-1950) का मानना है कि संस्कृति का आधुनिक अर्थ अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ही सामने आया है क्योंकि इससे पहले तक संस्कृति का मतलब सिर्फ जमीन जोतने तक सीमित था : (1) आधुनिक काल में इसका मतलब मस्तिष्क की सामान्य दशा या आदतों के अर्थ में लिया जाने लगा, (2) इसने पूरे समाज के पैमाने पर सामान्य बौद्धिक स्तर को चिन्हित करना शुरू कर दिया, (3) इसने कला संपदा को इंगित किया, (4) सदी के आखिर में यह भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक—समूचे जीवनदर्शन को इंगित करने लगा।

वैश्वीकरण के हिमायतियों ने समझ लिया है कि दूसरे राष्ट्रों को अपना उपनिवेश बना लेने से आर्थिक फायदे तो होते हैं लेकिन बदले में भारी राजनीतिक कीमत भी चुकानी पड़ती है जबकि **वैश्वीकरण का मतलब है वस्तुओं, सेवाओं और पूंजी का राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार मुक्त प्रवाह और राष्ट्रीय उद्यमों का निजीकरण।** पिछले दो दशकों में कंप्यूटर एवं दूरसंचार प्रौद्योगिकियों में आई क्रांतियों ने विश्व अर्थव्यवस्था के एकीकरण को भारी गति प्रदान कर दी है। गौर करने वाली बात यह है कि इन प्रौद्योगिकियों ने उत्पादकता में इजाफा नहीं किया है। 'यद्यपि उत्पादन प्रक्रिया के कुछ आयाम पहले से ज्यादा कुशलता से संपन्न होने लगे हैं लेकिन उत्पादकता में कोई खास इजाफा दिखाई नहीं देता। मिसाल के तौर पर, अब रेलवे स्टेशनों पर आरक्षण भले पलक झपकते ही मिल जाता है लेकिन रेलगाड़ियां अब भी वैसी ही लेट-लतीफ चलती हैं जैसे पहले चलती थीं।'

तलवार हाथ में लिए चलने वाले पुराने नृशंस विजेता की जगह अब विद्वान, पुजारी और व्यापारी की त्रिमूर्ति ने ले ली है। विद्वान उस इलाके के बारे में जानकारियां इकट्ठा करता है जिस को जीता जाना है, पुजारी उसके आध्यात्मिक अधिग्रहण का रास्ता साफ करता है और व्यापारी मुनाफे से अपनी तिजोरियां भरता है। आज के संदर्भ में इस त्रिमूर्ति को मोटे तौर पर 'बाजार शोधकर्ता', 'विज्ञापनकर्मी' और 'पूंजीवादी' के रूप में समझा जा सकता है। चाहे आप इसे 'अंतर्सांस्कृतिक सहमेल' कहें या आधुनिकीकरण का नाम दें, सच्चाई यह है कि ये सब 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' के ही सूक्ष्म रूप हैं। संस्कृति एवं विकास पर केंद्रित यूनेस्को की एक रिपोर्ट के मुताबिक : **लद्दाख से लिस्बन तक, चीन से पेरू तक, पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में—वेशभूषा, जीन्स, बाल काढ़ने के तरीके, टी-शर्ट्स, जॉगिंग, खाने की आदतें, संगीत के सुर, यौनिकता के प्रति रवैये, सब वैश्विक हो गए हैं। यहां तक कि नशीली दवाइयों से संबंधित अपराध, औरतों के साथ दुराचार व बलात्कार, घोटाले और भ्रष्टाचार भी सरहदों को पार करके वैश्विक रूप धारण कर चुके हैं।** वैश्वीकरण और उदारीकरण के अंतर्निहित वैचारिक आधार को 'मुक्त बाजार', 'प्रगति' और 'बौद्धिक स्वतंत्रता' जैसे विचारों की देन माना जा सकता है जो एक खास तरह के सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा होते हैं। इस प्रकार हमें मुट्ठी भर विकसित राष्ट्रों के वर्चस्व वाली समरूप वैश्विक संस्कृति में घुल-मिल जाना पड़ता है ताकि वैश्वीकरण और उदारीकरण के अधिकतम लाभ पा सकें। इसका नतीजा यह होता है कि राष्ट्रीय संस्कृति और लगातार घुसपैठ करती वैश्विक संस्कृति के बीच तनाव पैदा होता जाता है। और भी चिंताजनक बात यह है कि महानगरीय केंद्रों से नियंत्रित होने वाली क्षेत्रीय उपसंस्कृतियों को भी मीडिया अपने दबदबे में ले लेता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया कुछ खास सिद्धांतों पर चलती है : बाजार सब कुछ जानता है (व्यक्तिवाद); व्यक्ति जो चाहता है उसे मिलना चाहिए ताकि वह संतुष्ट रहे, भले वह पोर्नोग्राफी ही क्यों न मांगे (भोगवाद)। कहने का मतलब यह है कि इससे विविध संस्कृतियों में बनावटी समरूपता पैदा होती है जिससे मानव सभ्यता दरिद्र होने लगती है।

आगे बढ़ने से पहले कुछ ऐसे हानिकारक आयामों को रेखांकित करना बेहतर होगा जो बाजार और मीडिया के बीच नाभि-नाल रिश्तों को मजबूत बनाते हैं और वैश्विक संस्कृति को जन्म देते हैं।

1. संदेश देने वाले के लिए लक्ष्य श्रोता अदृश्य रहता है जिसके चलते संदेशों को श्रोताओं के हिसाब से जैसे चाहे काटा-छांटा जा सकता है। इस प्रकार जो सूचना आगे बढ़ाई जा रही है उसको विविधता की बजाय सामान्य मानकों की कसौटी पर कसा जाता है। किसी लोक कला के एक रूढ़ मीडिया प्रस्तुतिकरण में सामान्य संरचना पर जोर दिया जाएगा लेकिन किसी इलाके के अलग-अलग हिस्सों में प्रचलित बारीक चीजों को छोड़ दिया जाएगा और जिज्ञासु दर्शकों को कुछ खास सीखने का मौका नहीं मिल पाएगा। यह सामान्यीकृत प्रक्रिया एक अवधि के बाद मानक बन जाती है जिसे हर अनुगामी को अपनाना होता है। यही बात भाषा पर भी खरी उतरती है। सभी जानते हैं कि भाषा अपने क्षेत्र और वहां की स्थानीय खासियतों को साथ लिये चलती है। इस प्रकार मीडिया में एक तटस्थ किस्म की भाषा को बढ़ावा दिया जाता है ताकि अलग-अलग अवधियों में तरह-तरह के दर्शकों और श्रोताओं से बात की जा सके। इस प्रकार एक खास किस्म की भाषायी अभिव्यक्ति सार्वभौमिक मॉडल बन जाती है।

2. दर्शकों और श्रोताओं के विविध स्वरूप को देखते हुए संदेश देने वाला विमर्श के स्तर को निम्नतम साझा स्तर पर ले आता है ताकि ज्यादा से ज्यादा लोग उसे समझ सकें। जाने-माने पत्रकार कार्ल बर्न्ससटीन के मुताबिक इससे एक ''टाइम इडियट संस्कृति'' पैदा होती है। जैसा कि वह कहते हैं, ''इतिहास में पहली बार सबसे बेतुके, सबसे बेवकूफ और सबसे भद्दी चीजें हमारे सांस्कृतिक प्रतीक यहां तक कि हमारे सांस्कृतिक आदर्श बनती जा रही हैं।'' ज्यादा से ज्यादा दर्शकों तक पहुंचने के लिए मीडिया सतही, पची-पचायी, आसानी से समझ में आने वाली खुराक बेचती है। वास्तव में टेलीविजन का पर्दा, मनोरंजक अखबार और चमकदार पत्रिकाओं ने आलोचनात्मक पड़ताल और विचार-विमर्श की संभावनाओं को तार-तार कर डाला है। एक समय के बाद दर्शक भी इसी तरह की सूचनाओं के पीछे पागल होने लगते हैं। दर्शक जटिल समस्याओं के सरल जवाब ढूंढना चाहते हैं और जटिल व सूक्ष्म परिघटनाओं में दिलचस्पी दिनोंदिन घटने लगती है। दिनों-दिन में रुचि छोड़ कर लोग हल्के-फुल्के कामों में जाने लगते हैं और नई पीढ़ी में विश्लेषण की उतनी गहरी क्षमता नहीं बचती।

3. आकार और विशाल स्तर से संचालित होने वाला मीडिया अक्सर अल्पसंख्यकों और हाशियाई तबकों की रुचियों और हितों को प्रायः अनदेखा कर देता है। स्थानीय तत्व वैश्विक मीडिया के साथ कोई असरदार प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।

4. मानव इतिहास के लंबे काल में स्वाभाविक रूप से उपजे सांस्कृतिक रूप जन माध्यमों के फलस्वरूप अस्तित्व में आए अनूठे संचार माध्यमों के कारण बदल गए हैं और उन्हें बिल्कुल अलग उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा है। मसलन, प्रारंभिक दौर में धर्म उस असीम ईश्वर के साथ मेल का एक साधन था लेकिन अब यह राजनीतिक गोलबंदी का उपकरण बन चुका है।

5. तमाम परंपरागत संस्कृतियां नैतिक आचरण की आधारशिला पर खड़ी होती थीं। मीडिया एक ऐसे प्रतिस्पर्धी विश्व में काम करता है जहां कवरेज और मुनाफा बढ़ाने के लिए हर रास्ता जायज है। मीडिया के ज़रिए आने वाली सूचना हमेशा एक खास नज़रिये से लैस होती है और घटना के कुछ सनसनीखेज और अजीबोगरीब आयामों को खासतौर से बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है जिससे किसी नैतिक आग्रह की कोई जरूरत बाकी नहीं रहती।

एक जीवनशैली के रूप में संस्कृति लगातार बदलती जा रही है। आधुनिक काल में कुछ घटनाओं ने परिवर्तन की इस प्रक्रिया को बहुत तेज कर दिया है जिसके भयानक परिणाम पैदा हुए हैं : (क) सांस्कृतिक विविधता में कमी आई है; (ख) एक दूसरे की पहचान तय करने के लिए हर रोज इस्तेमाल होने वाले जातीय, भाषायी, क्षेत्रीय, धार्मिक एवं बहुसांस्कृतिक आयामों के ऊपर 'मुक्त व्यापार' तथा 'संचार की स्वतंत्रता' के नाम पर वर्चस्वशाली नियंत्रण कायम हुआ है।

इस बदलाव के निहितार्थ बहुत तरह के हैं और इस बात के कोई संकेत दिखाई नहीं देते कि उनकी वजह से किसी भी तरह मानवता की सामाजिक, भौतिक या आध्यात्मिक कुशलक्षेम में इजाफा हो रहा है। इन पहचानों को भारतीय समाज के बहुलवाद और बहुगुणकता के आधार पर समझा जाना चाहिए जो एक व्यापक 'साझा सहमति' के रास्ते पर चल रहा है। जहां एक तरफ आधुनिकता के ज़रिए सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में पहचान के कई टकराव अपरिहार्य हैं वहीं दूसरी तरफ जातीय नियमों को चुनौती दी जा रही है, धर्म से संबंधित परापहचानों की निर्मित की प्रक्रिया गहरे खतरों से भरी हुई है। दैनिक जीवन में सामूहिक पहचानों की सामाजिक वरीयता को देखते हुए भारतीय संदर्भ में 'व्यक्तिगत पहचान' के बारे में सोचना या सिद्धांत बनाना एक कठिन कार्य है।

मानकीकृत और समरूप उपभोक्ता संस्कृति की दुनिया में पांव न जमा पाने के कारण, अपनी इच्छाओं को पूरा न कर पाने और सदियों पुरानी विरासत के साथ तनावपूर्ण संबंधों के चलते आज युवाओं को उनकी जातीय, धार्मिक एवं राष्ट्रीय पहचानों के आधार पर एकजुट किया जा रहा है। इसकी वजह से बेहिसाब तनाव पैदा हुए हैं। इन टकरावों की पड़ताल करने पर पता चलता है कि ये टकराव संपदा और सत्ता के असमान वितरण से उपजे हैं। वैश्विक आर्थिक पुनर्गठन के कारण भारी रोजगार कटौती और बेरोजगारी ने आर्थिक गैरबराबरी और सामाजिक असंतोष बढ़ा दिया है। इन हालात में एक ऐसा माहौल पैदा किया है जहां पहचानों पर खतरा दिखाई देने लगा है। वर्ग आधारित राजनीति में आ रही गिरावट के कारण आम युवा कट्टरवादी आंदोलनों का शिकार बनते जा रहे हैं। शक्तियों के उपरोक्त समीकरण में कट्टरपंथी धार्मिक आंदोलन वैश्वीकरण की प्रक्रिया के पराजितों को एकजुट करके आगे बढ़ता है। कोई अचरज की बात नहीं है कि कट्टरपंथी धार्मिक आंदोलनों का सामाजिक आधार मोटे तौर पर गरीब और वंचित तबके ही रहे हैं जिन्हें अपनी लुप्त पहचान और आर्थिक स्थिरता पाने के लिए इन आंदोलनों के अलावा और कोई सहारा दिखाई नहीं देता।

पठन सामग्री-2

रोजगार का टूटता आधार

खेती के बाद सबसे अधिक रोजगार देने वाले हथकरघा उद्योग, कुटीर उद्योग, लघु उद्योग और जंगल पर आश्रित रोजगार के अवसरों को समाप्त करने का खुला खेल शुरू हो चुका है। विकेंद्रीकरण से कम पूंजी लगा कर अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा, इस सिद्धांत को अमली रूप देने वाले कानून को दस अप्रैल को पूरी तरह लाचार बना दिया गया। सिर्फ लघु उद्योगों द्वारा उत्पादन की नीति के तहत बीस वस्तुएं आरक्षित रह गई थीं। जो वस्तुएं लघु और कुटीर उद्योग में बनाई जा सकती हैं उन्हें बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित न करने देने की स्पष्ट नीति के तहत 1977 की जनता पार्टी की सरकार ने 807 वस्तुओं को लघु और कुटीर उद्योगों के लिए संरक्षित किया था। यह नीति विश्व व्यापार संगठन की कई शर्तों के आड़े आती थी इसलिए 1991 के बाद लगातार यह सूची संकुचित की जाती रही। विदेशी मुद्रा के फूलते गुब्बारे और भुगतान संतुलन के 'सुधार' के साथ यह शर्त जुड़ी थी कि उत्पादन में मात्रात्मक प्रतिबंध नहीं लगाए जा सकेंगे। विश्व व्यापार संगठन की इस शर्त के कारण 1 अप्रैल, 2000 को संरक्षित सूची से 643 वस्तुएं हटा दी गईं।

इस वर्ष दस अप्रैल को जिन बीस वस्तुओं को हटा कर संरक्षण के लिए बनाई गई सूची को पूरी तरह खत्म किया गया था उन पर गौर कीजिए—अचार, पावरोटी, सरसों का तेल, मूंगफली का तेल, लकड़ी का फर्नीचर, नोटबुक या अभ्यास पुस्तिका और रजिस्टर, मोमबत्ती, अगरबत्ती, आतिशबाजी, स्टेनलेस स्टील के बरतन, अल्युमिनियम के घरेलू बरतन, कांच की चूड़ियां, लोहे की अलमारी, लोहे की कुर्सियां, लोहे के टेबल, लोहे के सभी तरह के फर्नीचर, रोलिंग शटर, ताले, कपड़े धोने का साबुन और दियासलाई। बड़ी पूंजी, आक्रामक विज्ञापन, मानव-श्रम की जगह मशीन को तरजीह देने वाली तकनीक से लैस देशी-विदेशी खिलाड़ी अधिक रोजगार देने वाले इन छोटे उद्योगों को लील जाएंगे।

इस प्रकार के छोटे और कुटीर उद्योगों के उत्पादों की खपत को बढ़ावा देने के लिए केंद्रीय एवं राज्य-स्तरीय सरकारी क्रय संस्थाओं द्वारा लघु और कुटीर उद्योगों से ही सामान खरीदने की नीति को भी निष्प्रभावी बनाने की दिशा में काम हो रहा है। इससे ठीक विपरीत स्थिति पर गौर करें। बड़े उद्योगपतियों को बढ़ावा देने के लिए नियम-कानून बदल देने का भी इतिहास रहा है। सरकार द्वारा नियम कानून बदल कर अपने प्रिय औद्योगिक घराने को बहुत बड़े पैमाने पर लाभ पहुंचाने के प्रमुख उदाहरणों में अंबानियों के उदय को प्रायोजित करने के लिए तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा सिर्फ उन्हें ही सिंथेटिक धागे के उत्पादन के लिए कच्चे माल के आयात की इजाजत देने के साथ-साथ हथकरघा द्वारा तैयार की जाने वाली कपड़ों की किस्मों की आरक्षित सूची को निष्प्रभावी बना देना है। गौरतलब है कि कपड़ा और उद्योग नीति के इन नीतिगत फैसलों के द्वारा अंबानी को देश का सबसे बड़ा औद्योगिक घराना बनाने के पहले तक सूती कपड़े कृत्रिम धागों से बने कपड़ों से सस्ते थे। कृत्रिम धागों से पावरलूम पर बने कपड़ों की इजाजत के साथ-साथ लाखों हथकरघा बुनकरों की आजीविका छिन गई है। पहले पावरलूम पर सिर्फ 'कोरे कपड़े' और हथकरघे पर बिनाई की विविध डिजाइनों के कपड़ों को बनाने की इजाजत थी।

यह कानून 1985 में बन गया था। तब बाईस किस्म के कपड़े इस कानून के तहत हथकरघे के लिए संरक्षित किए गए गए थे। पावलूम लॉबी ने कानून को 1993 तक मुकदमेबाजी में फंसाए रखा और 1993 में जब यह प्रभावी हुआ तब संरक्षित किस्मों की संख्या ग्यारह रह गई। एक प्रामाणिक अध्ययन के अनुसार हथकरघे पर बने होने के दावे वाले सत्तर फीसद कपड़े दरअसल मिलों या पावरलूम पर बने होते हैं।

भारत में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तीस लाख लोगों को काम मिला है जबकि हथकरघा से दो करोड़ लोग जुड़े हैं। अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी यात्री फ्रैन्कोए पिरार्ड डी लावाल ने अपने यात्रा विवरण में बताया है कि अफ्रीका के दक्षिणी छोर से चीन तक

लोग भारतीय हथकरघे पर बने कपड़ों से अपना शरीर ढंकते थे। उनके अनुसार भारत के पूर्वी तट के सिर्फ एक बंदरगाह से सालाना पचास लाख गज कपड़े का निर्यात होता था।

वर्ष 2002 के गुजरात जनसंहार के बाद कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज के राहुल बजाज, अजीम प्रेमजी और गोदरेज जैसे उद्योगपतियों ने इसकी निंदा की थी। इसके मुकाबले कुछ गुजराती उद्योगपतियों ने रीसर्जेंट गुजरात नामक एक समूह बनाया और तत्कालीन मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी का बचाव किया। रिसर्जेंट गुजरात का नेतृत्व अडाणी समूह के गौतम अडाणी और टोरेन्ट नामक दवा कंपनी के सुधीर मेहता कर रहे थे। प्रावधानों का दुरुपयोग करते हुए पिछले साल अगस्त में सर्वप्रथम मेहता की कंपनी को दाम नियंत्रण से पांच साल की छूट प्रदान की गई।

दुनिया के प्रमुख बैंक गौतम अडाणी को ऑस्ट्रेलिया में कोयला खदान के लिए कर्ज देने से इनकार कर चुके थे, तब भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख बैंक स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने उन्हें इस कार्य के लिए छह हजार करोड़ रुपए का ऋण दिया। किसी भी विदेशी परियोजना के लिए यह सबसे बड़ा ऋण है। अडाणी समूह पर 55,364.94 करोड़ रुपए लंबी अवधि का कर्ज है और तीस सितंबर, 2014 को 17,267.43 करोड़ रुपए का लघु-अवधि का कर्ज था। अडाणी समूह सन 2002 में 3,741 करोड़ रुपए का था, यह 2014 में बढ़ कर 75,659 करोड़ रुपए का बन गया है।

कच्छ के मुंद्रा में बंदरगाह बनाने के लिए गुजरात सरकार द्वारा अडाणी को एक रुपए से सोलह रुपए प्रति वर्ग मीटर की दर से जमीन मुहैया कराई गई, जो बाजार दर से बहुत ही कम थी। पिछले साल गुजरात विधानसभा में पेश की गई नियंत्रक एवं महा लेखा परीक्षक की रपट के अनुसार राज्य सराकार द्वारा पच्चीस हजार करोड़ रुपए की अनियमितताएं की गई थीं। इनमें अडाणी, अंबानी और एस्सार समूह को डेढ़ हजार करोड़ रुपए का अनुचित लाभ शामिल था। गुजरात के बड़े शहरों में पाइपलाइन से रसोई गैस की आपूर्ति और पूरे प्रदेश में सीएनजी पंप अडाणी समूह द्वारा संचालित हैं।

पर्यावरण मंत्री ने राज्यसभा में एक प्रश्न के जवाब में बताया है कि 2004 और 2013 के बीच विभिन्न परियोजनाओं के लिए 3 लाख 43 हजार हेक्टेयर जंगल समाप्त कर दिए गए। इससे जुड़ा प्रश्न बनता है कि इन जंगलों पर कितने परिवार आश्रित थे?

मौजूदा सरकार (यह लेख सन् 2015 में प्रकाशित हुआ था) व्यापक जनसमुदाय द्वारा उत्पादन नहीं चाहती है; वह उत्पादन का ढेर लगाना चाहती है। 'जनसमुदाय' और 'ढेर' के लिए अंगरेजी में एक ही शब्द 'मास' होने के कारण यह नीति गांधीजी की 'प्रोडक्शन बाय मासेस, नॉट मास प्रोडक्शन' वाली नीति का विलोम है। वैश्वीकरण के दौर की सरकारें (चाहे वे यूपीए की रही हों, या राजग की) इस मामले में भिन्न नहीं हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में आकर उत्पादन करने के लिए इस सरकार ने जो 'मेक इन इंडिया' का नारा दिया है उसके लिए यह जरूरी है कि जनता द्वारा उत्पादन के अवसरों को योजनाबद्ध तरीके से समाप्त किया जाए। इस सरकार द्वारा श्रम कानूनों में संशोधन भी गैर-मानवीय है और इसका एकमात्र उद्देश्य श्रमिकों के ज्यादा शोषण द्वारा उत्पादन को बढ़ाना है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रम कानूनों में प्रस्तावित 'सुधार' भारत के मजदूरों की हालत चीन के जैसी कर देंगे।

विकास दर की स्पर्धा में चीन से मुकाबला करने के लिए श्रमिकों के काम की परिस्थितियों को चीन जैसा बनाया जा रहा है। चीन में लगातार तीन-चार दिनों तक कारखाने से न निकलने देने की व्यवस्था है।

इस अवधि में मजदूरों को कारखाना परिसर में ही निर्धारित अवधि तक आराम, भोजन, नित्यकर्म के अलावा बाकी समय कारखाने में जुते रहना पड़ता है। इन परिस्थितियों में चीन में मजदूरों की आकस्मिक मौत की घटनाएं काफी बढ़ गई हैं। अमेरिका की बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने श्रमिकों के ज्यादा शोषण के अवसरों को ध्यान में रख कर अपने कारखाने चीन में स्थापित किए हैं। कंप्यूटर और मोबाइल बनाने वाली प्रसिद्ध कंपनी एप्पल के चीन में स्थापित एप्पल को आपूर्ति देने वाली फॉक्सकॉन कंपनी के कारखाने के चौदह श्रमिकों ने काम की परिस्थिति से आजिज आकर 2010 में आत्महत्या कर ली थी।

बीबीसी ने बीते दिसंबर में इसी कंपनी और इस कंपनी को आपूर्ति करने वाले कंपनी में अपने रिपोर्टरों को श्रमिक के भेष में भेजा। लगातार अठारह दिनों तक सोलह-सोलह घंटों की पाली, तेरह-चौदह वर्ष के बच्चों को श्रमिकों के रूप में लगाना और ओवरटाइम के स्वैच्छिक न होने के तथ्य प्रकाश में आए।

श्रम कानूनों में प्रस्तावित सुधारों की दिशा बड़ी कंपनियों को चीन जैसे नियम-कानून और माहौल प्रदान करने के प्रति आश्वस्त करने वाली है। सरकार ने जिन श्रम कानूनों में संशोधन का प्रस्ताव किया है वे ऐसे कानून हैं जिनके तहत श्रमिक छह दशक से भी अधिक समय से अपने नियोजन से संबंधित सुविधाएं और लाभ प्राप्त करते आ रहे हैं। कारखाना अधिनियम, 1948 के प्रस्तावित संशोधनों को देखें तो वर्तमान कानून के अनुसार सामान्यतया किसी भी वयस्क श्रमिक से एक दिन में नौ घंटों से अधिक काम नहीं कराया जा सकता और इस अवधि में भी पांच घंटों के बाद आधे घंटे का विश्राम दिया जाना आवश्यक है।

1948 के कानून में इन्हीं तथ्यों पर विचार कर सीमित ओवरटाइम के प्रावधान किए गए थे, पर अब मजदूरों के स्वास्थ्य की कीमत पर इस तरह के कथित श्रम सुधार करना कतई उचित नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में एक तिमाही में ओवरटाइम की अधिकतम अवधि पचास घंटे है जिसे सरकार सौ घंटे करना चाहती है। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि कम से कम श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य कराया जा सके।

अभी तक कारखानों में महिला श्रमिकों और किशोरों को जोखिम भरे काम पर नहीं लगाया जा सकता, पर अब संशोधन के द्वारा यह प्रावधान करने का प्रस्ताव किया गया है कि केवल किसी गर्भवती महिला या विकलांग व्यक्ति को जोखिम भरे काम पर न लगाया जाए। इसका सीधा अर्थ यह है कि सरकार का इरादा महिलाओं और किशोर श्रमिकों को भी जोखिम भरे कार्यों में लगाने का है।

आर्थिक विकेंद्रीकरण और सामाजिक न्याय के परखे हुए विश्वास का स्थान 'मेक इन इंडिया' के प्रति अंध-विश्वास ले रहा है। बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेट हित की बुनियाद रखने के लिए हथकरघा, लघु, कुटीर उद्योग और श्रमिक हितों की कब्र खोदने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

● **अफलातून**

पठन सामग्री-3

कहाँ से आते हैं जूते?

तुम कह सकते हो यह भी कोई सवाल हुआ? दुकान से आते हैं जूते। पर सवाल यह है कि दुकान में कहाँ से आते हैं?

खैर, अमरीका की एक संस्था नॉर्थवेस्ट वॉच को यह सवाल बहुत भाया। इसलिए उनसे जानना चाहा कि सामान्य अमरीकी परिवारों में इस्तेमाल होने वाले जूते कहाँ से आते हैं। इस छोटी-सी जिज्ञासा है उस संस्था को लगभग पूरी दुनिया का चक्कर लगवा दिया। कैसे...

चलो, शुरू करते हैं जूते की यात्रा...

मान लो किसी जूते पर अमरीका की सबसे प्रसिद्ध जूता कम्पनी का ठप्पा लगा है। पर यह जूता इसने बनाया नहीं है। इस कम्पनी ने एक बिल्कुल अनजानी कम्पनी से करार किया हुआ है। इस अप्रसिद्ध कम्पनी को खोज निकालने में थोड़ा समय लगा। मेहनत बहुत करनी पड़ी क्योंकि दूरी बहुत थी—वे दक्षिण कोरिया जा पहुँचे। इस लम्बी थकान भरी यात्रा से भी वे खुश ही थे कि चलो अब जूते की कहानी पूरी हुई। पर नहीं।

यह तो शुरुआत थी। दक्षिण कोरिया की यह कम्पनी भी इस जूते को खुद नहीं बनाती है। वह इसे इण्डोनेशिया के जकार्ता शहर की एक गुमनाम कम्पनी से बनवाती है। वह कम्पनी वहाँ के एक औद्योगिक हिस्से में है। इस जगह का नाम है—तांगेरैंग।

मज़ेदार बात यह है कि सारा काम यहाँ भी नहीं होता है। यहाँ की कम्पनी जूते के उच्च तकनीकी डिज़ाइन को अपने कम्प्यूटरों से ताइवान देश की एक और गुमनाम कम्पनी को भेजती है।

इस डिज़ाइन के तीन भाग हैं। पहला है, ऊपरी हिस्सा जो पैर के पंजे को ढंकता है। दूसरा भाग है, पैर के तलुए से चिपककर रहने वाला जूते का सुफतला। तीसरा है, सड़क या पगडण्डी पर चलने वाला निचला तना। अब ये सब कोई मामूली जूते के अंग थोड़े ही हैं। इसलिए इन तीन प्रमुख अंगों के बीस हिस्से और हैं।

इस जूते का मुख्य हिस्सा है—चमड़ा। यह गाय का चमड़ा है। इन गायों को इसी काम के लिए विशेष रूप से अमरीका के टेक्सास में पाला जाता है। यहीं इन्हें आधुनिक तकनीक से बने कत्लखानों में मशीनों से मारा जाता है। फिर बड़ी बारीकी से इनका चमड़ा निकाला जाता है। काटे जाते समय की नरमी खाल में बनाए रखने के लिए उसे न जाने कितनी रासायनिक क्रियाओं से निकाला जाता है। फिर उसे नमक के पानी में उपचारित किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में चमड़े का एक टुकड़ा कोई 750 किस्म के रसायनों से गुज़रता है।

इस तरह तैयार यह चमड़ा बड़ी-बड़ी मालगाड़ियों में लदकर अमरीका के लॉस एंजलीस भेजा जाता है। इस शोधित चमड़े की आगे के यात्रा जल मार्ग से होती है। पानी के जहाजों से चमड़े के ये भीमकाय गट्ठर दक्षिण कोरिया देश के पुसान नाम की जगह तक पहुँचते हैं। यहाँ इनकी और बेहतर सफाई होती है।

अमरीका में पर्यावरण को लेकर बड़े सख्त नियम हैं। प्रदूषित पानी को साफ किए बगैर नदी, नालों में नहीं छोड़ा जा सकता है। वहाँ हवा-पानी को साफ बनाए रखने के पर्यावरण मानक तगड़े हैं। कोई चूक हो जाए तो भारी मुआवज़ा चुकाना पड़ता है। यह काम करने वालों को भारी मेहनताना भी देना पड़ता है। और फिर चमड़े से जुड़े होने के कारण सभी समाज में इन्हें थोड़ी टेढी

और नीची निगाह से देखा जाता है। इन सब परेशानियों से बचने का अमरीकियों को एक तरीका नज़र आया। और वह यह कि अपनी सारी मुसीबतें, गन्दगी एशिया के किसी देश के आँगन में फेंक दो। पानी के जहाज का भाड़ा चुकाने के बाद भी यह सब अमरीका में ही करने से सस्ता बैठता है। जूते पर मुनाफा बढ़ गया सो अलग।

चमड़े की कमाई-रंगाई पुसान की फैक्टरियों में होती है। इसके लिए हरेक टुकड़ा 20 चरणों की बेहद खतरनाक रासायनिक क्रियाओं से गुज़ारा जाता है। इस दौरान चमड़े की सारी गन्दगी, कचरा, बाल, ऊपरी परत—सब अन्तिम रूप में अलग हो जाते हैं। यह सब गन्दगी फैक्टरी के पड़ोस में बह रही नाकटोंग नदी में छोड़ दी जाती है। अब हल्का, बेहद कीमती, शुद्ध चमड़ा हवाई जहाज में लदकर जकार्ता पहुँचता है।

चमड़े को यहीं छोड़कर पहले जूते में लगने वाले तले को देखते हैं। बीच के तले में फोम का उपयोग होता है। यह खूब हल्का, खूब मज़बूत फोम गर्मी-सर्दी से बचाता है। इस बनाने में जो पदार्थ लगते हैं उनमें से एक सउदी अरब से निकलने वाले पैट्रोल से बनता है।

अब बारी है बाहरी तले की। इसे स्टाइरीन ब्यूटाडाइन रबर से बनाया जाता है। इसका कुछ भाग सउदी अरब से निकले पेट्रोल से बनता है तो कुछ ताइवान की कोटला खदानों से निकले बेंजीन से। बेंजीन निकालने का कारखाना ताइवान के परमाणु बिजलीघर से मिलने वाली ऊर्जा से चलता है।

जूते का बाहरी तला भी बन गया। अब इसे अलग-अलग आकार-प्रकार के जूतों के हिसाब से डाई से काट-काटकर जूता-जोड़ी बनाना बाकी है। इन्हें बेहद दबाव और गर्मी देने वाले साँचों में ढालकर, काटकर अब तक बन चुके आधे जूते में चिपका दिया जाता है।

कुल मिलाकर पता यह चला कि सभी प्रसिद्ध जूता कम्पनियों के जूते इन्हीं सब जगहों में बनते हैं। सब जूतों में कोई भी अन्तर नहीं रहता। अन्तर है तो बस नामों की चिप्पी का—ब्राण्ड नेम का। इन लगभग एक-से जूतों पर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अपने-अपने कीमती ठप्पे लगा देती हैं।

जूते की यह यात्रा अपने पहले कदम से आखिर तक पशुओं को क्रूरता से मारती है, पर्यावरण नष्ट करती है, बनाने वालों का स्वास्थ्य खराब करती है, तो कहीं आसपास की भारी ऊर्जा खा जाती हैं। जूते के तैयार हो जाने के बाद भी यह यात्रा खत्म नहीं होती।

तैयार जूते को बहुत हल्के टिशू पेपर में लपेटना बाकी है। इस विशेष कागज़ को सुमात्रा के वर्षा वनों में उगने वाले कुछ खास पेड़ों को काटकर बनाया जाता है। पहले तो जूते का डिब्बा भी ताज़े गत्ते से बनता था। अब कई जूता कम्पनियों को पर्यावरण बचाने की सुध आ गई है। ये डिब्बे पुराने कागज़ों को रिसाइकल कर बनाए जाते हैं।

एक जूते की इस विचित्र यात्रा में कुल तीन सप्ताह का समय लगता है। अब कोई यह न पूछे कि ऐसे विचित्र ढंग से तैयार होने वाले, पूरी दुनिया का चक्कर काटकर बनने वाले जूतों को पहनकर लोग कितना पैदल चलते हैं?

जूतों का यह किस्सा किसी देश विशेष का नहीं है। जो हाल अमरीका का है, वही कनाड़ा, इंग्लैण्ड, ऑस्ट्रेलिया और यूरोप—सब जगह का है।

यदि हम नहीं संभले तो हमारा हाल भी ऐसा ही होने जा रहा है। हमें भी जूते इसी भाव पड़ेंगे।

● **अनुपम मिश्र**

रावण सुनाए रामायण

सनातन धर्म से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। गंगा को बचाने की कोशिश में लगे लोगों को पहले इस धर्म को मानना पड़ेगा।

बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। प्रकृति का कैलेंडर और हमारे घर-दफ्तरों की दीवारों पर टंगे कैलेंडर/काल निर्णय/पंचाग को याद करें बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। हमारे कैलेंडर/संवत्सर के पन्ने एक वर्ष में बारह बार पलट जाते हैं। पर प्रकृति का कैलेंडर कुछ हजार नहीं, लाख करोड़ वर्ष में एकाध पन्ना पलटता है। आज हम गंगा नदी पर बात करने यहां जमा हुए हैं तो हमें प्रकृति का, भूगोल का यह कैलेंडर भूलना नहीं चाहिए। पर करोड़ों बरस के इस कैलेंडर को याद रखने का यह मतलब नहीं कि हम हमारा आज का कर्तव्य भूल बैठें। वह तो सामने रहना ही चाहिए।

गंगा मैली हुई है। उसे साफ करना है। सफाई की अनेक योजनाएं पहले भी बनी हैं। कुछ अरब रुपए इसमें बह चुके हैं—बिना कोई परिणाम दिए। इसलिए केवल भावनाओं में बह कर हम फिर ऐसा कोई काम न करें कि इस बार भी अरबों रुपयों की योजनाएं बनें और गंगा जस की तस गंदी ही रह जाए।

बेटे-बेटियां जिद्दी हो सकते हैं। कुपुत्र-कुपुत्री हो सकते हैं पर अपने यहां प्राय: यही तो माना जाता है कि माता, कुमाता नहीं होती, तो जरा सोचें कि जिस गंगा माँ के बेटे-बेटी उसे स्वच्छ बनाने के लिए कोई 30-40 वर्ष से प्रयत्न कर रहे हैं—वह साफ क्यों नहीं होती। क्या इतनी जिद्दी है हमारी यह माँ।

साधु-संत समाज, हर राजनैतिक दल, सामाजिक संस्थाएं, वैज्ञानिक समुदाय, गंगा प्राधिकरण और तो और विश्व बैंक जैसा बड़ा महाजन भी गंगा को तन-मन-धन से साफ करना चाहते हों और यह मां ऐसी कि साफ ही नहीं होती। तो शायद हमें थोड़ा रुक कर कुछ धीरज के साथ इस गुत्थी को समझना चाहिए।

अच्छा हो या बुरा हो-हर युग का एक विचार, एक झंडा होता है। उसका रंग इतना जादुई इतना चोखा होता है कि वह हर रंग के झंडों पर चढ़ जाता है। तिरंगा, लाल, दुरंगा और भगवा सब उसको नमस्कार करते हैं, उसका गान गाते हैं। उस युग के, उस दौर के करीब-करीब सभी मुखर लोग, मौन लोग भी उसे एक मजबूत विचार की तरह अपना लेते हैं। कुछ समझ कर, कुछ बिना समझे भी। तो इस युग को, पिछले कोई 60-70 बरस को विकास का युग माना जाता है। जिसे देखो उसे अपना यह देश पिछड़ा लगने लगा है और वह पूरी निष्ठा के साथ इसका विकास कर दिखाना चाहती है। विकास पुरुष जैसे विश्लेषण सभी समुदायों में बड़े अच्छे लगते हैं।

वापस गंगा पर लौटें। पौराणिक कथाएं और भौगोलिक तथ्य दोनों ही कुल मिलाकर यही बात बताते हैं कि गंगा अपौरुषेय है। इसे किसी एक पुरुष ने नहीं बनाया। अनेक संयोग बने और गंगा अवतरण हुआ, जन्म नहीं। भूगोल, भूगर्भ शास्त्र बताता है कि इसका जन्म हिमालय के जन्म से जुड़ा है—कोई दो करोड़, तीस लाख बरस पुरानी हलचल से। इसके साथ एक बार फिर अपनी दीवारों पर टंगे कैलेंडर याद कर ले—अभी तक 2013 बरस हुए हैं।

इस विशाल समय अवधि का विस्तार अभी हम भूल जाएं, इतना ही देखें कि प्रकृति ने गंगा को सदानीरा बनाए रखने के लिए इसे अपनी कृपा का केवल एक प्रकार—यानि वर्षा भर से नहीं जोड़ा था। वर्षा तो चार मास होती है। बाकी आठ मास इसमें पानी लगातार कैसे बहे, कैसे रहे, इसके लिए प्रकृति ने उदारता का एक और रूप गंगा को भेंट किया था—नदी का संयोग हिमनद से करवाया। जल को हिम से मिलाया। तभी ये सदानीरा बन सकी। आज के इस बैठक का नाम गंगा शिखर सम्मेलन रखा गया है, इसलिए यह भी ध्यान दिला दूं कि प्रकृति ने गंगोत्री और गोमुख स्थान हिमालय में इतनी अधिक ऊंचाई पर, इतने ऊंचे शिखर पर रखा कि वहां कभी हिम पिघल कर समाप्त नहीं हो सके। जब वर्षा समाप्त हो जाए तो हिम, बर्फ पिघल-पिघल कर गंगा की धारा अविरल रहे।

तो हमारे समाज ने गंगा को माँ माना और ठेठ संस्कृत से लेकर भोजपुरी तक में ढेर सारे श्लोक मंत्र, गीत, सरस, सरल साहित्य रचा। समाज ने अपना पूरा धर्म उसकी रक्षा में लगा दिया। इस धर्म ने यह भी ध्यान रखा कि हमारे धर्म, सनातन धर्म

से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। नदी अपने उद्गम से मुहाने तक एक धर्म का, एक रास्ते का, एक घाटी का, एक बहाव का पालन करती है। हम नदी धर्म को अलग से इसलिए नहीं पहचान पाते क्योंकि अब तक हमारी परंपरा तो उसी नदी धर्म से अपना धर्म जोड़े रखती थी।

पर फिर न जाने कब विकास नाम के एक नए धर्म का झंडा सबसे ऊपर लहराने लगा। यह प्रसंग थोड़ा अप्रिय लगेगा पर यहां कहना ही पड़ेगा कि इस झंडे के नीचे हर नदी पर बड़े-बड़े बांध बनने लगे। एक नदी घाटी का पानी नदी धर्म के सारे अनुशासन तोड़ दूसरी घाटी में ले जाने की बड़ी-बड़ी योजनाओं पर नितांत भिन्न विचारों के राजनैतिक दलों में भी गजब की सर्वानुमति दिखने लगती है। अनेक राज्यों में बहने वाली भागीरथी, गंगा, नर्मदा इस झंडे के नीचे आते ही अचानक माँ के बदले किसी न किसी राज्य की जीवन रेखा बन जाती हैं और फिर उसका इस राज्य में बन रहे बांधों को लेकर वातावरण में, समाज में इतना तनाव बढ़ जाता है कि फिर कोई संवाद, स्वस्थ बातचीत की गुंजाईश ही नहीं बच पाती। दो राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सत्ता हो तो भी बांध, पानी का बंटवारा ऐसे झगड़े पैदा करता है कि महाभारत भी छोटा पड़ जाए। सब बड़े लोग, सत्ता में आने वाला हर दल, हर नेतृत्व बांध से बंध जाता है। हरेक को नदी जोड़ना एक जरूरी काम लगने लगता है। वह यह भूल जाता है कि प्रकृति जरूरत पड़ने पर नदियां जोड़ती है। इसके लिए वह कुछ हजार-लाख बरस तपस्या करती है, तब जाकर गंगा-यमुना इलाहाबाद में मिलती हैं। कृतज्ञ समाज तब उस स्थान को तीर्थ मानता है। मुहने पर प्रकृति नदी को न जाने कितनी धाराओं में तोड़ भी देती है। बिना तोड़े नदी का संगम, मिलन सागर से हो नहीं सकता।

तो नदी में से साफ पानी जगह-जगह बांध, नहर बना कर निकालते जाएं-सिंचाई, बिजली बनाने और उद्योग चलाने के लिए, विकास करने के लिए। अब बचा पानी तेजी से बढ़ते बड़े शहरों, राजधानियों के लिए बड़ी-बड़ी पाईप लाईन में डाल कर चुराते जाएं। यह भी नहीं भूलें कि अभी 30-40 बरस पहले तक इन सभी शहरों में अनगिनत छोटे-बड़े तालाब हुआ करते थे। ये तालाब चौमासे की वर्षा को अपने में संभालते थे और शहरी क्षेत्र की बाढ़ को रोकते थे और वहां का भूजल उठाते थे। यह ऊंचा उठा भूजल फिर आने वाले आठ महीने शहरों की प्यास बुझाता था। अब इन सब जगहों पर ज़मीन की कीमत आसमान छू रही है। बिल्डर-नेता-अधिकारी मिलजुल कर पूरे देश के सारे तालाब मिटा रहे हैं। महाराष्ट्र में अभी कल तक 50 वर्षों का सबसे बुरा अकाल था और आज उसी महाराष्ट्र के पुणे, मुम्बई में एक ही दिन की वर्षा में बाढ़ आ गई है। इंद्र का एक सुंदर पुराना नाम, एक पर्यायवाची शब्द है पुरंदर—पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ने वाला। यानि यदि हमारे शहर इंद्र से मित्रता कर उसका पानी रोकना नहीं जानते तो फिर वह पानी बाढ़ की तरह हमारे शहरों को नष्ट करेगा ही। यह पानी बह गया तो फिर गर्मी में अकाल भी आएगा ही।

वापस गंगा लौटें। उत्तराखंड की बाढ़ की, गंगा की बाढ़ की टीवी पर चल रही खबरों को याद करें। नदी के धर्म को भूल कर हमने अपने अहम के प्रदर्शन के लिए बनाए तरह-तरह के भद्दे मंदिर, धर्मशालाएं बनाई, नदी का धर्म सोचे बिना। यह बाढ़ मूर्तियां आदि सब कुछ गंगा अपने साथ बहा ले गई।

तो नदी से सारा पानी विकास के नाम पर निकालते रहे, ज़मीन की कीमत के नाम पर तालाब मिटाते जाएं और फिर सारे शहरों, खेतों की सारी गंदगी, जहर नदी में मिलाते जाएं और फिर सोचें कि अब कोई नई योजना बनाकर हम नदी भी साफ कर लेंगे। नदी ही नहीं बची। गंदा नाला बनी नदी साफ होने से रही। भरूच में जाकर देखिए रसायन उद्योग विकास के नाम पर नर्मदा को किस तरह बर्बाद किया है। नदियां ऐसे साफ नहीं होंगी। हम हर बार निराश ही होंगे।

तो आशा नहीं बची ? नहीं ऐसा नहीं। आशा है पर तब जब हम फिर से नदी धर्म ठीक से समझ सकें। विकास की हमारी आज जो इच्छा है उसकी ठीक जांच कर सकें। बिना कटुता के। गंगा को, हिमालय को कोई चुपचाप षड्यंत्र करके नहीं मार रहा। ये तो सब हमारे ही लोग हैं। विकास, जीडीपी, नदी जोड़ो, बड़े बांध सब कुछ हो रहा है—या तो यह पक्ष करता है या तो वह पक्ष। विकास के इस झंडे के तले पक्ष-विपक्ष का भेद समाप्त हो जाता है। मराठी में एक सुंदर कहावत है : रावणा तोंडी रामायण। रावण खुद बखान कर रहा है रामायण की कथा। हम ऐसे रावण न बनें।

● **अनुपम मिश्र**

पानी एक बड़ी चुनौती

एक बार मैंने दिल्ली के कुछ स्कूली बच्चों से पूछा, 'पानी कहाँ से आता है?' उनका उत्तर था, 'नल से,' 'नल में कहाँ से आता है,' तो आगे बोले, 'ट्यूबवेल से।' कुछ ने कहा, 'हैण्डपम्प से,' तो कुछ बच्चे नदी की बात भी करने लगे। बात सिर्फ बच्चों की नहीं थी। मैंने कुछ युवाओं और सामान्य लोगों से भी यही सवाल किया, तो उन सबका जवाब यही था, लेकिन मध्य हिमालय की पहाड़ियों में अपने पशुओं के लिये घास काटने वाली 'घसियारी' महिलाएँ, जो अपढ़ या बहुत कम पढ़ी-लिखी हैं, उनकी पानी की समझ शहरी समाज से भिन्न है। वे इसे प्रकृति से जोड़कर देखती हैं। जंगल के बीच एकान्त में पक्षियों की कलरव ध्वनि के साथ उनका यह गढ़वाली 'बाजूबन्द' गीत गूँजता है—*भुजेल, बड़ियों कु ठंडू पाणी पीजा छैला बांज की जड्यो कु... । मेरे प्रिय हमजोलिया पेठ की बड़ियों का स्वाद तो लाजवाब होता है, किन्तु उससे भी लाजवाब स्वाद तो बांज की जड़ों के पानी में है। इसी तरह ल्यो ठंडो पाणी बांज की जड़ी को, ल्यो ठंडो पाणी जेठ-बैशाख।*

'चिपको आन्दोलन' के सुप्रसिद्ध लोक कवि धनश्याम शैला ने भी लिखा और गाया- 'ईं बांज बुरांश सि कुलैकी डालि, न काटा-न काटा यों रखा जग्वाली, पात्यों म छ दूध की जड़ियों म पाणी...यों बांज बुरांश कु यो ठंडो पाणी...' अर्थात बांज-बुरांश के जंगल न काटें। इन्हें बचाकर, संरक्षित करें। इनकी पत्तियों को जब पशु खाते हैं, दूध मिलता है, किन्तु उससे भी बढ़कर इनकी जड़ों से ठंडा पानी मिलता है। पहाड़ों में अब भले ही गाँव-गाँव या घर-घर में नलों द्वारा पानी आ गया है, किन्तु पुराने समय में गाँव वहीं बसे जहाँ पानी के स्रोत थे।

बांज, मध्य और उच्च हिमालय में 4000 फुट से 8500 फुट की ऊँचाई तक प्राकृतिक रूप से उगने वाला सदाबहार पेड़ है। बांज चीड़ के पेड़ की तरह एकल नहीं उगता, अपितु बांज का जोरदार मिश्रित समाज है। बांज के साथ बुरांश, काफल, किनगोड़, अंयार, खाकसी, रुईंस सहित सैकड़ों तरह की लता, बेल, घासें व झाड़ियाँ उगती हैं। जहाँ बांज का जंगल होगा निश्चित बात है कि उसके जलागम के नीचे पानी का स्रोत जरूर होगा, यह पानी इतना स्वादिष्ट और पाचक होता है कि एक बार यदि किसी ने पी लिया, तो जिन्दगी में कभी भूल नहीं सकता।

बांज के साथ पानी देने वाले अन्य पेड़-पौधों की पहचान भी पारखियों ने की है, जिनमें मुख्य रूप से वनखड़िक, उतीस, हिंसर, काफल, कुंजा-जंगली गुलाब, बेडू आदि हैं। जलस्रोत सिर्फ जलस्रोत नहीं हैं, अपितु धरती के गर्भ से निकलने वाले जल को अनेक रूपों में अनेक नामों से जाना जाता है। धारा, नौला, सेल्वाणी, मगरा, कुण्ड, कुआँ, ताल (तालाब), चाल-खाल (पोखर), रौ, छड़ा (झरना), गाड-गधेरा (छोटी नदियाँ व सामान्य बड़ी नदियाँ), सबकी अलग-अलग पहचान है।

● **विजय जड़धारी**

संविधान, जल नीति और मौजूदा जल संकट

मौजूदा जल संकट की गम्भीरता का अनुमान सुप्रीम कोर्ट की 6 अप्रैल 2016 की उस टिप्पणी से लगाया जा सकता हैं जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार से कहा है कि देश के दस राज्य सूखे की मार झेल रहे हैं। पारा 45 डिग्री पर पहुँच रहा है। लोगों के पास पीने का पानी नहीं है। उनकी मदद कीजिए। हालात बताते हैं कि महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, कर्नाटक, ओड़िशा, उत्तर प्रदेश, तेलंगाना, राजस्थान, और आन्ध्र प्रदेश अप्रैल माह से ही सूखे का दंश भोग रहे हैं। महाराष्ट्र के लगभग 20 हजार गाँव सूखे की चपेट में हैं। मराठवाड़ा में हालात इतने खराब हैं कि अस्पताल और जेल तक शिफ्ट करने की नौबत आ चुकी है। सौराष्ट्र इलाके के जलाशयों में केवल दो माह के लिये पानी बचा है। बुन्देलखण्ड में पलायन की स्थिति है। पानी पर पहरा है। पानी की कमी झेल रहे इलाकों में रेल द्वारा पानी पहुँचाने पर विचार हो रहा है। देश के 70 करोड़ लोग सूखे से प्रभावित है। देश के 91 प्रमुख जलाशयों में केवल 25 प्रतिशत पानी बचा है। आने वाले दिनों में बढ़ती गर्मी और वाष्पीकरण के कारण जलाशयों में बचे पानी का क्या हश्र होगा?

● **कृष्ण गोपाल 'व्यास'**

नोट्स

नोट्स

अभ्यास 10

कार्यनीति

⊙ उद्देश्य

साझी विरासत को शांति व सद्भाव के लिए उपयोग करना।

प्रक्रिया

- फेसिलिटेटर अभ्यास के उद्देश्यों को रेखांकित करे।
- समूह कार्य।
- क्षेत्र के आधार पर समूह निर्माण किया जाए। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र की अपनी सांस्कृतिक पहचान और विशिष्टता होता है, जो अन्य क्षेत्र से भिन्न हो सकती है। इसलिए क्षेत्र की पहचान के अनुसार वहाँ के लिए कार्यनीतियां बनाना बेहतर होगा।
- समूह चर्चा।
- प्रस्तुतिकरण।

चर्चा के बिंदु

- समुदायों में शांति व सद्भाव कायम करने के लिए साझी विरासत के उपयोग की कार्यनीति बनाना।
- वर्तमान समाज में साझी विरासत को किस प्रकार संरक्षित, विकसित व लोकप्रिय बनाया जा सकता है।
- कार्यनीति के बाद अनुभवों का आदान-प्रदान

आवश्यक सामग्री

चार्ट, मार्कर, स्केच पेन, टेप

समय

02:00 घंटे

फेसिलिटेटर नोट

इस अभ्यास में हम जमीनी स्तर पर कार्यनीति बनाने और उसे क्रियान्वित करने की शुरुआत करेंगे। इसलिए, आवश्यक है कि फेसिलिटेटर बड़े समूह के समक्ष पिछले सभी अभ्यासों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करे। फेसिलिटेटर को सभी अभ्यासों का क्रमवार ब्यौरा प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रस्तुति के बाद, सहभागियों में संघर्ष के दौरान अमन, शांति बहाल करने में साझी विरासत की कारगर भूमिका और कार्यनीति बनाने के कारण स्पष्ट होने लगेंगे। सहभागियों को यह बताना आवश्यक है कि साझी विरासत की प्रशिक्षण कार्यशाला ही विषय का आदि व अंत नहीं है। इन विषयों की जानकारी, पुस्तकों, पत्रिकाओं और रोजमर्रा के जीवन से भी प्राप्त की जा सकती है।

जैसा कि पहले अभ्यासों में कहा गया है, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी सांस्कृतिक पहचान और विशिष्टता होती है। उसकी इस पहचान और विशिष्टता का हमेशा आदर किया जाना चाहिए। अपने-अपने क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि भिन्न-भिन्न कार्यनीतियां अपनायेंगे।

फेसिलिटेटर द्वारा प्रतिभागियों को यह बात याद दिलानी चाहिए कि किसी क्षेत्र के सामाजिक तनाव और संघर्ष, उस क्षेत्र विशेष की सामाजिक-राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों के ही प्रतिफल होते हैं। भले ही परिणाम भिन्न हो, पर मुख्य कारण हमेशा एक जैसे होते हैं। जातीयता, सांप्रदायिकता, जाति, लिंग, नस्ल और अन्य कई रूपों के संघर्षों की जड़ में सामाजिक-राजनैतिक व आर्थिक स्थितियां होती हैं। इस स्थिति में, संभव है सहभागी फेसिलिटेटर से प्रश्न करें कि यदि उपर्युक्त स्थापना सही है तो फिर साझी विरासत को अमन व शांति कायम करने के औज़ार के रूप में इस्तेमाल करने के स्थान पर सीधे-सीधे समस्या के स्थापित कारणों पर ही क्यों न प्रहार किया जाए। उन्हें बताना होगा कि वे लोग जो सोच रहे हैं वह वास्तविकता है। सामाजिक संघर्षों से निपटने का अंतिम हथियार उक्त भौगोलिक क्षेत्र की सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक स्थितियां ही होती हैं। लेकिन यहां उन्हें यह भी समझाना होगा कि ये एक लंबी लड़ाई है और तब तक चलेगी जब तक समतावादी समाज का स्वप्न पूरा नहीं हो जाता। इस प्रक्रिया में साझी विरासत भी एक औजार के रूप में इस्तेमाल हो सकती है।

सबसे पहले समूह अपने क्षेत्र की विशिष्ट परिस्थितियों पर चर्चा करें। उसके पश्चात ही समूह क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्यनीति तय करने का कार्य कर पायेंगे। इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। सच यह है कि वे अपने क्षेत्र की परिस्थितियों को जितनी गहराई से जान पायेंगे, उतनी ही कारगर कार्यनीति बनाने में वे सफल होंगे।

प्रस्तुतिकरण को समेकित करने का प्रयास न करें। समूहों से कहें वे अपनी कार्यनीतियों को स्वयं रेखांकित करें। जमीनी स्तर पर कार्यनीतियों को लागू करने की जिम्मेदारी उनकी है। उन्हें यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि लचीलापन ही कार्यनीतियों की सफलता की कुंजी है। इस स्थिति में फेसिलिटेटर को अपनी ओर से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं।

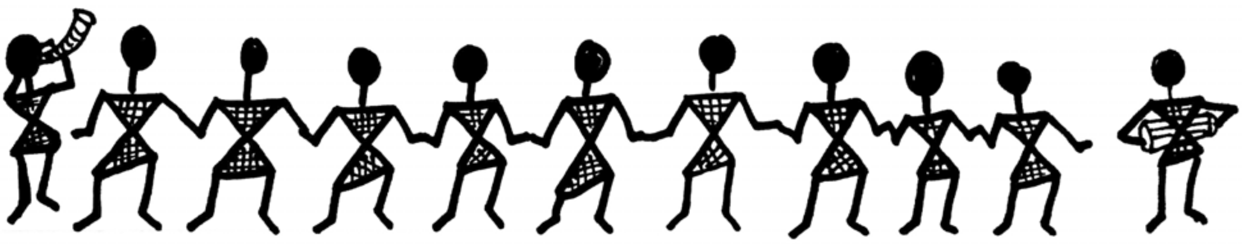

नोट्स

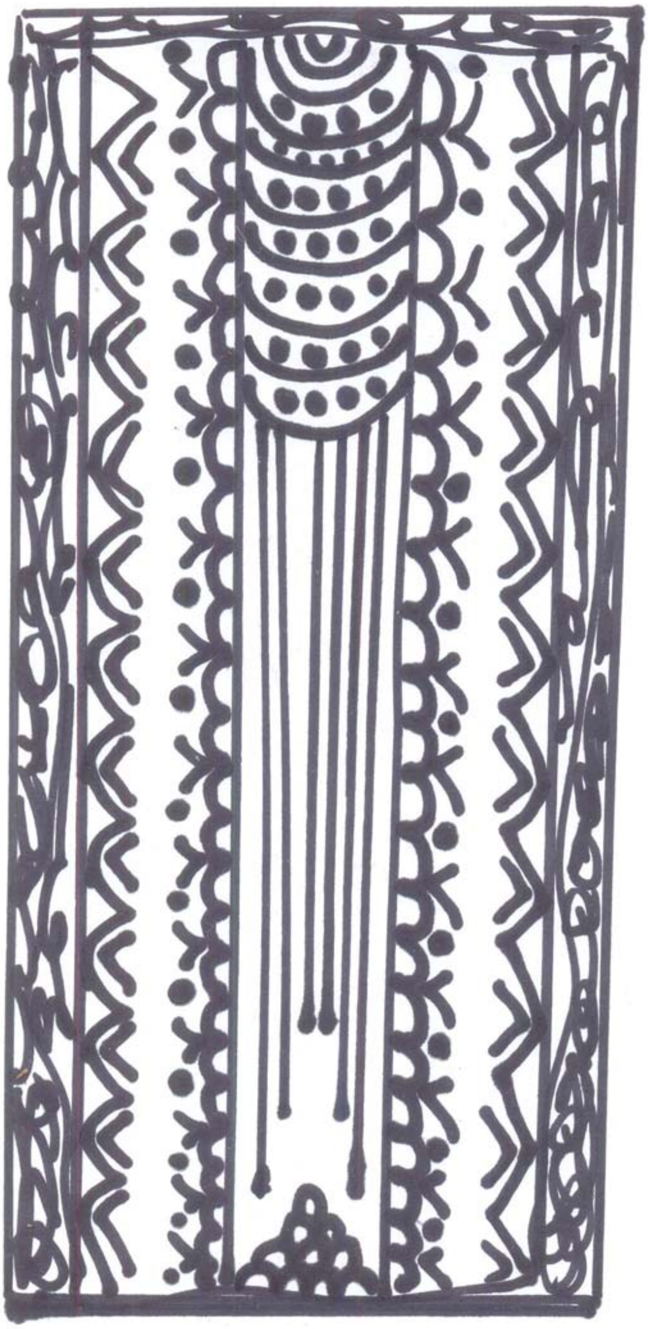

परिशिष्ट-2 कुछ झलकियां

1

3

2

4

5

6

7
Nuakhai Festival
नुआखाई त्यौहार

8

9

10

11

12

13

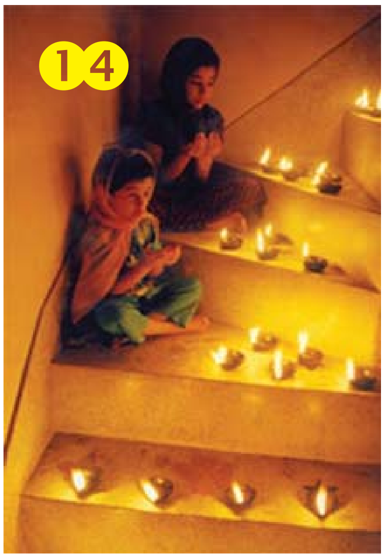
14

15

1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14

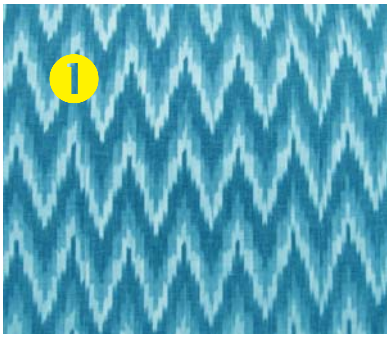
1

2

5
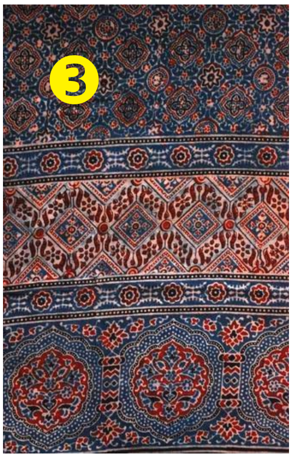
3
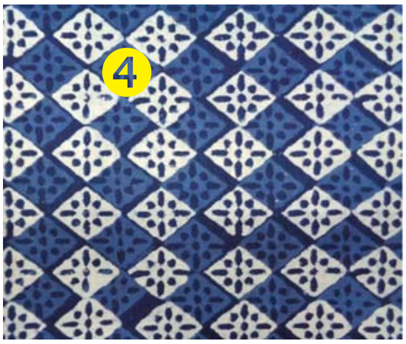
4

6

7

8

9

10

11

12
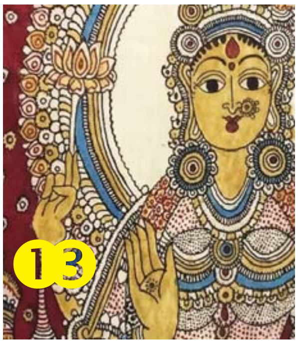
13

1
2
3
4
5

6
7
8
9
10
11
12
13

14
15

1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16

1

2

3

4

5

6
e-pao.net

7

8

9

10

झलकियां-1 त्यौहार (पृष्ठ 109)

01—पुत्तारी (फसलोत्सव), केरल

02—बिहू (फसलोत्सव), असम

03—टुसू (फसलोत्सव), झारखंड

04—बोनालू, तेलंगाना

05—छट पूजा, बिहार और झारखंड

06—हरेला, उत्तराखंड

07—नुआखाई, ओड़िशा

08—गणगौर, राजस्थान

09—नवरोज़ (पर्सियन नववर्ष)

10—ओणम, केरला

11—सरहुल, झारखंड

12—फुलदेई, उत्तराखंड

13—मकर संक्रांति

14—शब-ए-बारात

15—गुड़ी पर्वा (महाराष्ट्रियन नववर्ष)

झलकियां-2 पहनावा (पृष्ठ 110)

01—कुर्गी साड़ी, कर्नाटका

02—आभा या कंजर, कच्छ, गुजरात

03—मुस्लिम महिलाओं की पारंपरिक पोशाक, केरला

04—त्रिपुरा की पारंपरिक पोशाक

05—पारसी पोशाक

06—पति-पत्नी की पारंपरिक पोशाक, गुजरात

07—पति-पत्नी की पारंपरिक पोशाक, मारवाड़

08—मेखला, असम

09—फेरन, कश्मीर

10—स्त्री-पुरुष की पारंपरिक पोशाक, केरला

11—कुर्ती और लहंगा, पंजाब

12—मणिपुर पोशाक

13—विभिन्न पोशाकें

झलकियां-3 टेक्सटाइल (पृष्ठ 111)

01—इकत टेक्सटाइल

02—सम्बलपुरी, ओड़िशा

03—अजरख, सिंध, पाकिस्तान

04—बागरू, राजस्थान

05—चंदेरी, मध्य प्रदेश

06—बटिक टेक्सटाइल

07—बांधनी और बंधेज, गुजरात

08—लहरिया, राजस्थान

09—तांत, बंगाल

10—फूल गमछा

11—नार्थ ईस्ट (उत्तर-पूर्वी) टेक्सटाइल

12—माहेश्वरी टेक्सटाइल, गुजरात

13—कलमकारी, आंध्र प्रदेश और तेलंगाना

झलकियां-4 लोकवाद्य (पृष्ठ 112)

01—करताल

02—इक तारा

03—शहनाई

04—नगाड़ा

05—अलगोजा

06—मंजीरा

07—ढप

08—पीपा (असम)

09—खंजरी

10—डमरू

11—बीन

12—घटम

13—मादल

14—तम्बूरा

15—रावण हत्था

झलकियां-5 हस्तशिल्प (पृष्ठ 113)

01—बनारसी साड़ी

02—कतरी

03—कलमकारी

04—बांस शिल्प

05—आदिवासी शिल्प

06—पटियाली जूती और कोल्हापुरी चप्पल

07—कुम्हार

08—हस्तनिर्मित जूट बैग

09—ब्लॉक प्रिंटिंग

10—चरखा यॉर्न (धागा)

11—दारी हथकरघा

12—बैंबू आर्ट (बांस कला)

13—मिट्टी के बर्तन, खुर्जा

14—मिट्टी का काम

15—कठपुतली

16—अलीगढ़ी ताले

झलकियां-6 स्मारक (पृष्ठ 114)

01—अशोका पिल्लर, पटना, बिहार

02—सूर्य मंदिर, कोणार्क, ओड़िशा

03—कुतुब मीनार, दिल्ली

04—ताज महल, आगरा, उत्तर प्रदेश

05—हजार स्तंभ मंदिर, तेलंगाना

06—नूपी लेन, मणिपुर

07—महावत मकबरा, जूनागढ़, गुजरात

08—रंग घर, शिवसागर, असम

09—चांद बावड़ी, दौसा, राजस्थान

10—भगीरथी तपस्या स्थल, महाबलीपुरम, चेन्नई

नोट्स

नोट्स

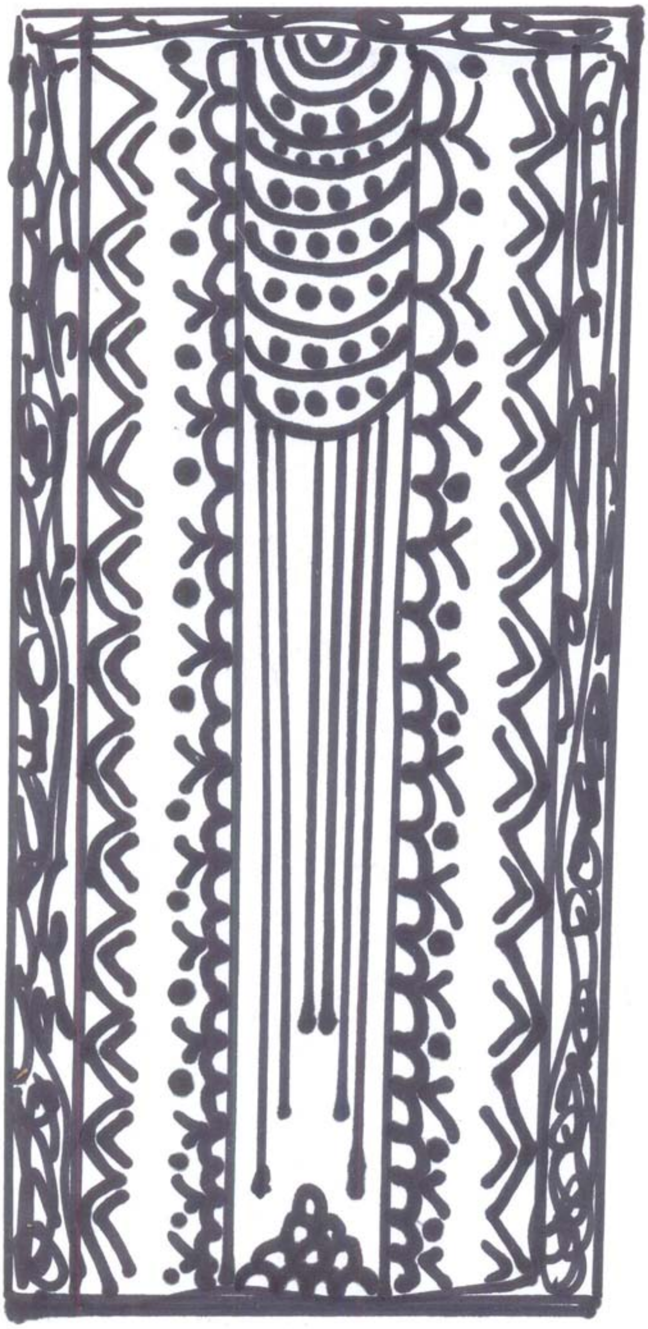

परिशिष्ट-३ संदर्भ सामग्री

द्रविड़ साझी विरासत

द्रविड़ साझी विरासत से आशय

ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्निंग डिक्शनरी के मुताबिक विरासत का मतलब होता है किसी भी देश या समाज का वो इतिहास, वे परंपराएं और विशेषताएं जो अनेक सालों से इस देश या समाज की पहचान बनाये रहती हैं और जो इसके चरित्र का अहम हिस्सा मानी जाती हैं, जबकि साझी उसे कहा जाएगा जो विभिन्न हिस्सों या पदार्थों के संगम का परिणाम होती हैं।

द्रविड़ियन लोग

1. उद्‌गम एवं इतिहास

द्रविड़ों के उद्‌गम और इतिहास को लेकर अनेक सिद्धांत और दृष्टिकोण पाए जाते हैं।

अगर तमिल लोककथा की मानें तो द्रविड़ भारत के दक्षिणी हिस्से में डूब चुके एक द्वीप कुमारी कंदम से आए थे। कुमारी कंदम का नाता लेमूरिया से भी जोड़ा जाता है। अगर वर्ल्ड बुक एनसाइक्लोपीडिया के पन्नों को पलटें तो पता चलता है की द्रविड़ लोग भारत के शुरुआती बाशिंदों में से थे। उन्होंने 2500 ईसा पूर्व के लगभग, सिंधु घाटी में आधुनिक सभ्यता की नींव रखी थी। भारत में एक ख़ास भाषा बोलने वाले समूह के लोगों को द्रविड़ कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि सबसे पहले वे ही मूल रूप से प्राचीन भारत में बसे थे। आज यह समूह मुख्यत: भारतीय समाज के निचले तबके के लोगों का है।

2. द्रविड़ सभ्यता

द्रविड़ सभ्यता को उस सिंधु घाटी की सभ्यता का पर्यायवाची माना जाता है जिसके ज्यादातर दर्शन वर्तमान पाकिस्तान में होते हैं। एक हजार वर्षों तक चलने वाली और हड़प्पा संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध इस सभ्यता के बारे में कहा जाता है कि यह हजारों वर्षों तक चली बसने-बसाने की प्रक्रिया का परिणाम थी। व्यापक खुदाई से संकेत मिलते हैं कि 2500 ईसा पूर्व आते-आते द्रविड़ संस्कृति पूरी तरह अपने पैर पसार चुकी थी। अभी हाल में किए गए अध्ययन तो यह उदघाटित करते हैं कि द्रविड़ संस्कृति सिंधु घाटी के पूरे-के-पूरे निचले इलाके में अपनी जड़ें जमा चुकी थी।

सन् 1920 में पाकिस्तान में और भारत में अहमदाबाद के निकट लोथल में की गई खुदाई में पाए गए मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल शहर सड़कों की बेहतरीन योजना के साथ बनाए गए थे। इन खुदाइयों के दौरान पाए गए अनेक स्थलों में धार्मिक कार्यक्रमों को इंगित करने वाले चारों ओर से घेरे गए स्थान थे। मोहनजोदाड़ो में मिली विशाल पानी की टंकी का इस्तेमाल धार्मिक अनुष्ठान से जुड़े स्नान की खातिर किया जाता रहा होगा।

सिंधु घाटी की सभ्यता सैकड़ों शहरों को अपने प्रभाव में ले चुकी थी। इनमें से कई शहरों की आबादी तो तीस से चालीस हजार तक थी। उस समय के शहर बेहतरीन सभ्यता के केंद्र थे। प्रत्येक घर में स्नानागार था, और प्रत्येक शहर में गंदी नाली की व्यवस्था थी। मकानों का निर्माण भट्ठे में पके ईंटों से किया जाता थाय हालांकि कभी-कभी धूप की गरमी में तपे ईंटों का इस्तेमाल भी किया गया। कुछ मकान तो अनेक कमरों वाले विशाल भवन थे। दूसरे कुछ छोटे मकान थे जिनका निर्माण गरीबों और कारीगरों के रहने के लिए कराया गया था। किलेनुमा भवन यही संकेत देते हैं कि बड़े-बड़े शहरों का प्रशासन चलाने के लिए एक राजनीतिक संगठन भी मौजूद था।

लोथल में तो एक ऐसा बंदरगाह था जो 50 ऐसे समुद्री जहाजों की आवाजाही संभव बनाता था जो दूसरे देशों के साथ व्यापार करते थे और इस सिलसिले में मिस्र तक की यात्रा करते थे।

3. प्रमुख द्रविड़ समूह

प्रमुख द्रविड़ समूह में निम्न शामिल हैं—पाकिस्तान स्थित बलूचिस्तान के ब्रहूई जो ख़ास मुसलमान हैं, मध्य और उत्तर भारत में बसे गोंड नामक आदिवासी, कन्नड़भाषी लोग, मलयालीभाषी लोग, श्रीलंका और तमिलनाडु में बसे तमिलभाषी लोग और तेलुगूभाषी लोग।

4. द्रविड़ भाषा

द्रविड़ भाषाई परिवार में 26 भाषाएं शामिल हैं। ये भाषाएं भारत के मुख्यत: दक्षिणी हिस्से में बसे 2 करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं, इस प्रकार द्रविड़ लोग दुनिया के चौथे सबसे बड़े भाषाई समूह के रूप में माने जाते हैं। इस समूह में कन्नड़, मलयालम, तेलुगू और तमिल लोग शामिल हैं। दक्षिणी भाषाएं भारत की आबादी के 24 फीसदी हिस्से द्वारा बोली जाती हैं। ये भी माना जाता है कि द्रविड़ भाषाएं पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, अफगानिस्तान, श्रीलंका और ईरान के कुछ इलाकों में भी बोली जाती हैं। बाहर से आकर मलेशिया, सिंगापुर, कनाडा, अमेरिका और इंगलैंड में बसे द्रविड़ भी द्रविड़ भाषाएं बोलते हैं।

द्रविड़ लोगों के लिखने का तरीका बहुत ही जटिल था। मुख्यत: मिट्टी की मोहर पर लिखे अभिलेख उदघाटित करते हैं कि लोगों को लिखने की कला आती थी और वे इसका अभ्यास भी करते थे। द्रविड़ लिपि अभी तक सुलझाई नहीं जा सकी है क्योंकि इसके कोड की कुंजी अनुपलब्ध है। इसलिए इसका पूरा मतलब और महत्व अभी भी नहीं समझा जा सका है। लेकिन कुछ आलेख यह संकेत देते हैं कि लोग गिनना और माप करना जानते थे।

द्रविड़ भाषाओं का अंकित इतिहास 2000 वर्षों से भी ज्यादा का है।

5. द्रविड़ साहित्य

दक्षिण भारत में बोली जाने वाली द्रविड़ भाषाओं का अपना प्राचीन साहित्य है। चार मुख्य भाषाए हैं—तमिल, तेलुगू, कन्नड़, और मलयालम।

संगम नाटक शुरुआती पारंपरिक तमिल साहित्य कवियों के दो समूहों द्वारा रचा गया था। एक समूह ने सौंदर्य रस की कविताओं की रचना की। दूसरे समूह ने अपनी कविताओं में सम्राटों के साहस और वैभव तथा अच्छे व बुरे का चित्रण किया। संगम नामक कालजयी साहित्य का रचना काल 300 ईसा पूर्व माना जाता है। संगम साहित्य 473 लेखकों द्वारा रचा गया। इनमें 30 महिलाएं भी शामिल थीं जिसमें से सबसे अधिक मशहूर लेखक कवियित्री अवैयार थीं।

शिलपाधिकारम और मणिमेखलै, नामक दो महान ग्रंथ सन् 200 में लिखे गए थे। पांचवी शताब्दी के दौरान तिरुवलूवर ने भद्र जीवन जीने का मार्गदर्शन कराने वाला ग्रंथ थिरुकुरल की रचना की।

छठी शताब्दी के आस-पास तमिल में धार्मिक भक्ति साहित्य लिखे जाने की शुरुआत हुई। नयनार नाम से लोकप्रिय तमिल कवियों का एक समूह भगवान शंकर का भक्त था, वहीं अलवर के नाम से लोकप्रिय दूसरा समूह भगवान विष्णु का भक्त था। दोनों ही समूहों द्वारा रची जाने वाली कविताएं दिल को बहुत गहराई तक छू लेती थीं, वहीं दोनों ही समूहों में महिलाएं कवि भी शामिल थीं।

दूसरी तमिल भाषाओं के साहित्य में भी इसी तरह के गुण पाए जाते थे क्योंकि उन पर भी तमिल व संस्कृत भाषाओं की परंपराओं का असर पड़ा था। तमिल साहित्य मुख्यत: हिंदू व बौद्ध परंपराओं को परिलक्षित करता था, जबकि कन्नड़ साहित्य पर जैनियों का प्रभाव स्पष्ट था। उत्तर भारत के क्षेत्रीय साहित्य की तुलना में दक्षिणी भारत के साहित्य की शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी।

6. द्रविड़ धर्म

हड़प्पा की खुदाई के दौरान मिली मिट्टी की मूर्तियों से संकेत मिलते हैं कि द्रविड़ लोग मुख्य रूप से मां देवी की पूजा करते थे, जिसकी पहचान बाद में काली के रूप में की गई। पूजा-अर्चना का स्त्रैण आयाम द्रविड़ लोगों के बीच काफी प्रचलित था।

टेराकोटा के मूर्तिशिल्प में स्त्री-आकार शामिल थे, ये आकार देवियों के हो सकते हैं। संभवत: इन देवियों को प्रजनन का प्रतीक माना जाता था और इनके पूजने वाले इनसे स्वस्थ बच्चों और अच्छी फसल की कामना करते थे।

दक्षिण में पहले और आज भी मरिअम्मा, येलेम्मा, कामा, मोरासम्मा, मतांगी, सोलम्मा और मुसम्मा नामक देवियां पूजे जाने वाली स्त्री रूपों में बहुत लोकप्रिय हैं।

द्रविड़ धर्म प्राकृतिक पदार्थों में दैवीय गुण और प्रकृति के शक्तियों में महा प्राकृतिक उपस्थिति की खोज कर सका। पेड़, पत्थर, प्रकृति—ये सभी द्रविड़ पूजा-अर्चना के हिस्से थे। पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश नामक प्राकृतिक तत्वों की आराधना की जाती थी। पैतृक पूजा-अर्चना भी द्रविड़ धर्म का आंतरिक हिस्सा था। गण चिन्हवाद यानी किसी जानवर या प्राकृतिक वस्तु को किसी ख़ास समूह या परिवार के ख़ास चिन्ह के रूप में चुनना और उसका सम्मान करना भी द्रविड़ लोगों की आदत में शुमार था।

जानवरों की भी पूजा की जाती थी, इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय था कूबड़ वाला बैल। मिट्टी की मोहरों में हाथियों, मगरमच्छों व दूसरे जानवरों की आकृतियां पाई गईं जिससे यही पता चलता है कि जानवरों के प्रति सम्मान द्रविड़ धर्म का अहम हिस्सा था।

7. द्रविड़ त्यौहार व उत्सव

दक्षिण भारत के सभी राज्यों (तमिलनाडु, केरल, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक और केंद्र शासित प्रदेश पुदुचेरी) में भी सभी राष्ट्रीय पर्व मनाए जाते हैं पर पारंपरिक क्षेत्रीय त्योहारों की बात ही अलग है। तमिलनाडु ओर पुदुचेरी में चार दिनों तक पोंगल का त्योहार मनाते हैं। मध्य जनवरी में मनाया जाने वाला यह त्योहार कृतज्ञता का उत्सव है। कृतज्ञता अपने खेतों, अपने पशुओं के प्रति। साथ ही जुड़ी है अच्छी फसल की कामना भी। केरलवासी हर साल अपने न्यायप्रिय राजा महाबलि के सम्मान में ओणम त्योहार मनाते हैं। घरों के सामने फूलों की सजावट के साथ विशेष पकवान बनाए जाते हैं तथा लोग एक-दूसरे को उपहार भी देते हैं। आंध्र-प्रदेश और तेलंगाना की मकर संक्रांति और पोंगल में समानता है। कर्नाटक में मैसूर का दशहरा ख़ास है जो कि चामुंडेश्वरी को समर्पित है। इसके अलावा मुख्य त्योहार हैं - तमिल नववर्ष उगाडी, रमज़ान, क्रिसमस, करगा, अरि पेरुक्क, विशु आदि।

8. द्रविड़ व्यापार और दस्तकारी

पुरातत्वविदों ने खासी मात्रा में सुनिर्मित मिट्टी के बर्तन, बैलगाड़ी की शक्ल की आकृतियों, मानव चेहरे वाली मूर्तियों, तांबे की वस्तुओं और कांच के मनकों को शामिल किया है। इससे साबित होता है कि द्रविड़ लोग दस्तकारी में निपुण थे। उनके द्वारा की जाने वाली दस्तकारी में मूर्तिकला, धातु का काम और शीशे का काम शामिल थे। सिंधुघाटी की सभ्यता और मध्य-पूर्व में मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता के बीच मजबूत समानता है। ऐसा माना जाता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत और फारस की खाड़ी के बीच समुद्री व्यापार का सिलसिला जरूर रहा होगा।

इस व्यापार से द्रविड़ लोगों को रोज़मर्रा की जरूरी खाद्य पदार्थ और लकड़ी, कपास, रंगने वाली डाई, धातुएं और कांच जैसे कच्चे माल की आपूर्ति होती थी।

9. द्रविड़ खेल एवं मार्शल आर्ट

कबड्डी, खो-खो और पालतू पशुओं के खेल द्रविड़ जन में आम हैं। तमिलनाडु के पारंपरिक खेल जल्लीकट्टू का बहुत पुराना इतिहास है। सन् 1930 में हुई खुदाई के दौरान मोहनजोदाड़ो से जो मृणमूर्तियाँ मिलीं उनसे भी इस खेल का प्रमाण मिलता है। इसका जिक्र 400-100 ई.पू. की अवधि में रचित संगम साहित्य में भी आता है। अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रीय खेल हैं जो केरल में

नादन पशु बलि, कर्नाटक में कम्बाला (भैंसा दौड़) और आंध्र प्रदेश में गुज्जाना गोल्लु। अदिथादा (भारतीय किक बॉक्सिंग), सिलाम्बम (बाँस की छड़ियों से लड़ा जाने वाला एक खेल) और कलरिपयडू (तलवारबाज़ी) जैसे मार्शल आर्ट का मूल क्षेत्र तमिलनाडु और केरल है। इनका अभ्यास बुरी शक्तियों के खिलाफ़ लड़ने व एक स्वस्थ जीवनशैली के लिए किया जाता है।

10. द्रविड़ भोजन

द्रविड़ भोज्य पद्धति लंबे समय से अरब, आर्य और पुर्तगालियों आदि के मेल-जोल से बदली या विकसित हुई पर फिर भी द्रविड़ पकवान आज भी संरक्षित हैं और इनकी एक विशिष्ट पहचान है। पारंपरिक भोजन मुख्यत: चावल आधारित है पर इलाक़ा-दर-इलाक़ा यह बदलता भी जाता है। दक्षिण भारत के तटीय इलाक़ों में मछली ज्यादा खाई जाती है। तमिलनाडु के रसोईघरों में चावल को विभिन्न दालों के साथ मिलाकर तरह-तरह के पकवान, जैसे दोसा, इडली, उत्तपम, वड़ा और अन्य चीज़ें जैसे सांभर, नारियल चटनी, रसम, पोरियल आदि बनाए जाते हैं। आंध्र-प्रदेश के भोजन में मिर्च और इमली का प्रचुर इस्तेमाल किया जाता है और पेसा अट्टू, गोंगुरा, पुलिहोरा, कोडि इगुरु, कोडि पुलुस आदि व्यंजन बनाए जाते हैं। केरल के भोजन में नारियल की प्रचुरता है और ख़ास पकवान हैं अवियल, ओलन, माछ पोरियल, नारियल झींगा झोल आदि। कर्नाटक में लोग ताड़ की शक्कर और रागी से कई तरह के व्यंजन बनाते हैं। खान-पान के ये तरीके पूरी दुनिया में खाने-पीने का शौक रखने वालों के बीच पसंद किए जाते हैं।

11. द्रविड़ सामाजिक व्यवस्था

इतिहास गवाह है कि द्रविड़ लोग मातृवंशीयता का पालन करते थे। मातृवंशीयता ने महिलाओं को ताकत और सत्ता प्रदान की थी। सामाजिक कार्य व्यापार पर महिलाओं का नियंत्रण था। इससे साफ है कि सम्पत्ति संबंधी पैतृक अधिकार बेटियों को मिलते थे और वो भी मां के द्वारा।

प्राचीन द्रविड़ संस्कृति का पतन

द्रविड़ संस्कृति के पतन के कारण के बारे में अनेक सिद्धांत पेश किए जाते हैं :

1. आर्य संबंधी दृष्टिकोण

द्रविड़ संस्कृति के पतन के बारे में सबसे अधिक लोकप्रिय नजरिया आर्यों वाला सैन्यवादी नज़रिया है। भारत में आर्यों के इतिहास की जानकारी आर्यों के धार्मिक ग्रंथ चतुर्वेद (चार वेद) से प्राप्त होती है। ये चारों वेद और संस्कृत में अन्य पौराणिक साहित्य बताता है कि आर्य जनजातियों में संगठित थे। वैदिक धर्म और सैन्य शक्ति, दोनों में ही, अश्व यानी घोड़े की महत्वपूर्ण सांकेतिक भूमिका थी। इससे ये संकेत मिलते हैं कि आर्य यूरोप और एशिया के घास के मैदान वाले इलाकों से आए थे क्योंकि घास के मैदान घोड़ों को पालने के लिए उपयुक्त होते हैं। आर्य मुख्य रूप से भारत के जिस हिस्से पर बसे उसे उन्होंने सप्त-सिंध यानी सात नदियों वाली भूमि नाम दिया (आज इसे पंजाब के नाम से जाना जाता है)। पंजाब के मैदानी इलाकों में आर्यों ने पशु-पालन के साथ-साथ अधिक स्थाई खेती भी करी। उन्होंने जंगलों को साफ कर गेहूं और जौ की खेती शुरू की। उन्होंने बढ़ईगीरी का काम भी शुरू किया।

आर्यों ने स्थानीय संस्कृति की अवहेलना की। उत्तर भारत के इलाकों को उन्होंने जीतना और उन पर नियंत्रण करना शुरू कर दिया। साथ ही उन्होंने स्थानीय लोगों को उत्तरी भारत में दक्षिण की ओर या जंगलों की ओर, और दक्षिणी भारत में पहाड़ों की ओर खदेड़ना शुरू कर दिया। इस सिद्धांत के अनुसार इस तरह भारतीय समाज का सामान्य वर्गीकरण कर दिया गया। उत्तर भारतीय आर्य हैं और दक्षिण भारतीय द्रविड़ हैं।

ये भी माना जाता है कि सफेद चमड़ी वाले आर्य जाति-व्यवस्था के जनक हैं। वर्ण का तात्पर्य रंग से है। जाति-व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म के रूप में भी जाना जाता है। जिसे काली चमड़ी वाले द्रविड़ों पर गोरी चमड़ी वाले आर्यों के प्रभुत्व के रूप में देखा जा सकता है।

हालांकि अनेक ऐसे लोग भी हैं जो इस मान्यता को पूरी शंका से देखते हैं कि भारत में भी आर्यों द्वारा अतिक्रमण किया भी गया था। यह शंका भारत पर आर्यों के अतिक्रमण का काल 1500 ईसा पूर्व मानने के कारण है। लेकिन हिन्दुत्व के कुछ जानकारों की मानें तो हिन्दुत्व में कुछ घटनाएं बहुत पहले घटित हो चुकी थी। उदाहरण के तौर पर, महाभारत युद्ध के आर्य-काल के दौरान घटित होने के दावे के बावजूद ऐसा माना जाता है कि यह युद्ध उस काल से 7000 साल पहले हुआ था।

2. बाढ़ :

इतिहासकारों ने अनेक दूसरे विकल्प भी सुझाए हैं, इनमें से एक यह है कि सिंधु घाटी के बाढ़-ग्रसित होने के कारण पतन हुआ था।

3. खेती की विफलता :

एक अन्य संभावना यह बताई गई है कि आबो-हवा में आए बदलाव के कारण बरसात में कमी आ गई जिसके कारण खेती सूख गई, लिहाजा देश के दक्षिणी हिस्से की ओर व्यापक पलायन होने लगा।

4. अंतर्समूह प्रतिस्पर्धा :

अंतर्समूह प्रतिस्पर्धा और युद्ध के चलते कुछ समूहों को मिली जीत और दूसरे समूहों के खात्मे को भी द्रविड़ सभ्यता के पतन के कारणों में शामिल माना जाता है।

नई प्रवृत्तियों का उभार

प्राचीन द्रविड़ संस्कृति प्राचीन भारत के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय था। यह एक सभ्य, शांत और मातृसत्तात्मक साम्राज्य रूपी भारत था जिसका अनेक कारणों से अवसान होता चला गया।

फिर भी तमिलनाडु में पेरियार महाराष्ट्र में बाबा साहेब अंबेडकर, केरल में श्री नारायण गुरु और अय्यानकली, आंध्र प्रदेश में कवि मोई मीमाना व रंगास्वामी और सी आर रेड्डी जैसी महान विभूतियां तथा कर्नाटक का ब्राह्मण विरोधी आंदोलन धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इनके कारण द्रविड़ स्वाभिमान की अग्नि एक बार फिर प्रज्वलित हुई है।

पेरियार रामासामी ने द्रविड़ भूमि के मूल बाशिंदों या स्थानीय लोगों को रेखांकित करने के लिए आदि द्रविड़ शब्द की रचना की। इनके आधिकारिक दलित दर्जे को घोषित करने के लिए कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में क्रमश: आदि कर्नाटक और आदि आंध्र शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है। आदि द्रविड़ उन दलितों की ओर संकेत करता है जो पंचम हैं यानी पांचवा समूह है जिसे वर्णाश्रम धर्म के तहत चतुर्जातीय व्यवस्था में शामिल करने लायक भी नहीं समझा जाता है। दूसरी तरफ, दलित मानते हैं कि वे इतने कमज़ोर नहीं हैं कि उन्हें जाति व्यवस्था के खांचे में बांधा जाए। वे जाति-संबंधों के पार हैं... उनकी जाति, जाति-व्यवस्था से परे है...

हालांकि हर एक इलाक़े की अपनी विशिष्ट साझी विरासत होती है, पर यह विरासत हम अपने पड़ोसियों के साथ भी बांटते हैं। इस मामले में द्रविड़ साझी विरासत भी अपवाद नहीं है। अपनी विशिष्टता को बरकरार रखते हुए भारत और दक्षिण एशिया के दूसरे हिस्सों के साथ द्रविड़ साझी विरासत का एक अटूट रिश्ता है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने अपनी किताब 'युवाओं का सपना' में उन तमिल लोगों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है जो उनके द्वारा बनाई इंडियन नेशनल आर्मी (आई.एन.ए.) में शामिल हुए और आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लिया। हमारी आज़ादी की लड़ाई के साझे इतिहास के ये वो पन्ने हैं जिसे इस इलाके के द्रविड़ व गैर द्रविड़ सभी ने मिलकर लिखा है और जो सबका अपना है। ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं।

खंडित क्षेत्र की साझी विरासत

हर इंसान की कई पहचानें होती हैं। हम सदा अपनी राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, धार्मिक, जातीय, लैंगिक और कई दूसरी पहचानों से बंधे होते हैं। पहचानों के इस अजीबोगरीब उलझाव को कैसे समझा जाए? क्या यह पहले से तय किया जा सकता है कि इनमें से कौन सा आयाम पहचान निर्धारण की प्रक्रिया में ज्यादा अहम भूमिका निभाता है? राष्ट्रीय पहचान का सवाल एक आधुनिक परिघटना है। इसका इतिहास उन्नीसवीं सदी से ज्यादा पुराना नहीं है। हमारी धार्मिक (या सामुदायिक) पहचानें कहीं ज्यादा पुरानी हैं। लेकिन ऐसी पहचानों का स्वरूप भी आधुनिक काल में काफी बदल चुका है। भौगोलिक सीमाओं के आर-पार धार्मिक एकजुटताओं का बनना और उनका सियासी जोड़-तोड़ में इस्तेमाल किया जाना निश्चय ही एक आधुनिक परिघटना है।

पहचान का सवाल उन इलाकों में और जटिल हो जाता है जो कल तक सांस्कृतिक स्तर पर एकबद्ध थे लेकिन आज टूट-फूट और बिखराव के दौर से गुजर रहे हैं। पंजाब और बंगाल दो ऐसे ही उदाहरण हैं। इस बात से शायद ही कोई असहमत होगा कि उपमहाद्वीप के उत्तरी और पूर्वी छोर पर स्थित इन दोनों इलाकों का सांस्कृतिक परिवेश एक जमाने में मुख्य रूप से उनकी क्षेत्रीय पहचानों से बंधा हुआ था। दोनों क्षेत्र मध्यकाल से ही बहुधर्मी इलाके रहे हैं। 1931 की जनगणना के अनुसार बंगाल की आबादी में उस समय हिंदुओं और मुसलमानों की संख्या क्रमश: 43 प्रतिशत और 54 प्रतिशत थी। सिख धर्म के कारण पंजाब में धार्मिक विविधता और भी ज्यादा थी। 1931 में पंजाब की आबादी में मुसलमानों, हिंदुओं और सिखों की संख्या क्रमश: 55, 31 और 11 प्रतिशत थी। इन आंकड़ों को देखकर ऐसा लगता है कि इन इलाकों की संस्कृति भी धार्मिक आधार पर बनती-बिगड़ती रही होगी। लेकिन ऐसा नहीं था। यहां धर्म बहुआयामी रहा है। खासतौर से हिंदू धर्म में बहुलता के लिए खूब गुंजाइश थी। उसके भीतर तरह-तरह के पंथ चलते थे। इन इलाकों की धार्मिक बहुलता और विविधता ने उन्नीसवीं सदी तक क्षेत्रीय स्तर पर साझी संस्कृति के विकास में कोई बाधा नहीं पहुंचाई। लेकिन उन्नीसवीं सदी के बाद विघटनकारी प्रवृत्तियां सिर उठाने लगीं।

पहचानों की विविधता का सवाल सभी इलाकों के लिए एक जैसा नहीं रहा है। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ इलाकों (या कुछ समूहों और समुदायों) पर ऐसे मसलों का बहुत गहरा असर पड़ता है जबकि दूसरे इलाकों या समुदायों पर उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। यह समस्या बंगाल के मामले में ज्यादा साफ दिखायी देती है। आइए इसी बात को और ठोस अर्थों में समझने का प्रयास करें। बंगाल के पश्चिमी भाग (भारतीय बंगाल) में रहने वाला मुसलमान अपनी प्राथमिक पहचान को लेकर बार-बार संदेह का सामना करता है। उसके सामने यह सवाल बार-बार उठता है कि वह धार्मिक मुस्लिम समुदाय (उम्मा या सार्वभौमिक मुस्लिम बिरादरी) का सदस्य है, या क्षेत्रीय बंगाली समुदाय का हिस्सा है या एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय समुदाय का हिस्सा है? उसकी राष्ट्रीय, धार्मिक और क्षेत्रीय पहचानों का एक-दूसरे में समावेश मुश्किल रहता है। इसकी वजह से वह अलग-अलग समूहों में खड़ा दिखायी देने लगता है। उससे वफादारी और ताल्लुक के स्तर पर अलग-अलग, बल्कि कई बार टकरावपूर्ण अपेक्षाएं रखी जाती हैं। इतना ही नहीं, इनके अलावा उसकी दूसरी पहचानें (जेंडर, इलाके, पेशे, पंथ आदि पर आधारित) भी हो सकती हैं। लेकिन बंगाल के प्रसंग में क्षेत्रीय, धार्मिक और राष्ट्रीय पहचानें ऐतिहासिक रूप से बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण रही हैं।

यहां इस बात को रेखांकित करना महत्वपूर्ण रहेगा कि कई तरह की पहचानों का सवाल मानवता के साथ प्राय: हमेशा ही रहा है। इन पहचानों ने आधुनिकता के आने तक कभी कोई खास समस्या पैदा नहीं की। ऐतिहासिक रूप से मनुष्य अलग-अलग समूहों में रहता रहा है और उन समूहों के साथ उसकी पहचान भी जुड़ी रही है। ये समूह कुटुम्ब, जाति, धर्म, इलाके आदि के आधार पर बने होते थे। इन समूहों के साथ अपनी पहचान की वजह से चेतना या निष्ठा के स्तर पर उसे कभी कोई

समस्या पेश नहीं आयी। एक से अधिक पहचानों का सहअस्तित्व मानवता के इतिहास का एक सामान्य पहलू रहा है। यह उसके लिए कोई समस्या या दुविधा नहीं थी। आधुनिकता के आने के बाद ऐसा नहीं रहा। आधुनिकता कई पहचानों को तो स्वीकार करती है लेकिन पहचानों की ऊंच-नीच की मांग भी करती है। आधुनिकता के आने के बाद पहचानें ऊंच-नीच के ख़ानों में बंटने लगती हैं। आधुनिक मनुष्य एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां उसे अपनी बहुत सारी पहचानों में से किसी एक पहचान को सबसे महत्वपूर्ण या केंद्रीय पहचान बनाना पड़ता है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी किसी एक पहचान को बुनियादी, सर्वसमावेशी और व्यापक पहचान का दर्जा दे। इस परिस्थिति में ज्यादातर राष्ट्रीय पहचान को ही औरों के ऊपर प्राथमिकता मिलती है। कभी-कभी धार्मिक पहचान के रूप में भी राष्ट्रीय पहचान ही अभिव्यक्त होती है। संक्षेप में, अपने साथ हमेशा बहुत सारी पहचानें लेकर चलने वाले मनुष्य को आधुनिक परिस्थितियों में अपनी पहचानों का क्रम और उनके बीच ऊंच-नीच तय करनी ही पड़ती है।

पहचानों की ऊंच-नीच पर इस दबाव से बंगाल (और एक हद तक पंजाब) के मामले में एक समस्या पैदा हो जाती है। पूरा बंगाल सदियों तक भौगोलिक और सांस्कृतिक स्तर पर एकजुट रहा है लेकिन बीसवीं सदी में उसे तीन विभाजनों का दंश झेलना पड़ा। पहले विभाजन 1905 को तो जल्दी ही रद्द कर दिया गया लेकिन 1912 में दूसरा विभाजन (1947) स्थायी और निर्णायक साबित हुआ। बंगाल के एक हिस्से को पूर्वी पाकिस्तान और नवगठित पाकिस्तान राष्ट्र-राज्य का हिस्सा घोषित कर दिया गया जिसका मुख्यालय पंजाब में था। बंगाल के दूसरे हिस्से को पश्चिम बंगाल का नाम दिया गया और वह भारत का एक सूबा बना रहा। बंगाल का यह विभाजन धर्म पर आधारित था। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की और पश्चिमी बंगाल में हिंदुओं की संख्या ज्यादा थी। नवगठित पाकिस्तान के लोगों को लगता था कि पूर्वी बंगाल सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप से भले ही बहुत अलग हो लेकिन धर्म, खासतौर से इस्लाम की विचारधारा उसे शेष पाकिस्तान के साथ जोड़े रखने में अहम भूमिका निभाएगी। लेकिन भौगोलिक और सांस्कृतिक पहचान की चाह ने 1971 में एक बार फिर सिर उठाया और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान से अलग होकर बांग्लादेश के नाम से एक संप्रभु राष्ट्र राज्य बन गया। यहां हमें इस बारे में सोचना चाहिए कि वे कौन से कारक रहे हैं जिन्होंने बंगाल के दोनों हिस्सों को एक-दूसरे से अलग रखा है? आखिर दोनों इलाकों की संस्कृति और भाषा तो एक ही है। बांग्लादेश का राष्ट्रगान भी रवींद्रनाथ टैगोर ने ही लिखा है। टैगोर संभवत: एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनके गीतों को दो अलग-अलग देशों में राष्ट्रगान का दर्जा दिया गया है। फिर भला वह कौन सी बात है जो बंगाल के दोनों हिस्सों को एक-दूसरे से अलग रखती है? क्या यह धर्म का मामला है? या राष्ट्र राज्य का तर्क ही ऐसा होता है कि एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद उसे वापस नहीं मोड़ा जा सकता?

बंगाल के बारे में सबसे दिलचस्प बात यह है कि मुस्लिम बहुल इलाका होते हुए भी यहां कभी ख़ालिस इस्लामिक माहौल नहीं था। बंगाल में जो इस्लाम फैला वह उच्चतर, सिद्धांतनिष्ठ और शास्त्रोक्त इस्लाम नहीं था। यह निम्नतर, सूफ़ियाना, अनुष्ठानिक और रूढ़िवादी इस्लाम था। इसी कारण यहां समावेशी और साझी संस्कृति के बीज पड़ने लगे जो उन्नीसवीं सदी तक बंगाल के भू-दृश्य को अपने आगोश में लिये रही। बंगाल में इस्लाम के इस पहलू पर बहुत सारे लोगों ने विचार किया है और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है। बंगाल के सांस्कृतिक तौर-तरीके न खालिस हिंदू थे और न ही खालिस इस्लामिक। 'उच्चतर' इस्लाम के हिमायती इन तौर-तरीकों को भ्रष्ट मानते थे। मिसाल के तौर पर, सोलहवीं सदी में ही बंगाल के मुगल सूबेदार एहतिमान खान ने बंगालियों के देशी तौर-तरीकों की निंदा करते हुए उन्हें 'गैर-इस्लामिक' बताया था। इस्लामिक आचरण से इन कथित भटकावों पर सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक भी टीका-टिप्पणियां चलती रहीं। उन्नीसवीं सदी के आखिर में बंगाल में तैनात एक अंग्रेज डॉ. जेम्स वाइज़ बंगाली मुसलमानों के 'हिंदू धर्म से प्रभावित भ्रष्ट' तौर-तरीकों का मखौल उड़ाया करते थे। बीसवीं सदी की शुरुआत में जाने-माने मुस्लिम बुद्धिजीवी सैयद अमीर अली ने भी बंगाली मुसलमानों को कमतर मानते हुए कहा था कि वे 'मुख्य रूप से हिंदू धर्म से धर्मांतरित' हैं और अभी भी बहुत सारे 'हिंदू रीति-रिवाजों को मानते' हैं। कुछ समय बाद भारतीय धर्मों के अंग्रेज विशेषज्ञ विलियम ने बंगाली मुसलमानों को 'इस्लाम के साथ अधूरे तौर पर जुड़ा हुआ' बताया। पूर्वी पाकिस्तान के गवर्नर मलिक फिरोज़ ख़ान नून ने 1952 में बंगाली मुसलमानों को 'आधा मुसलमान' कहा था।

समकालीन टीकाकारों और राजनेताओं के अलावा बहुत सारे इतिहासकारों ने भी इस परिघटना पर टिप्पणी की है। मोहम्मद

मुजीब उन्हें 'अधूरा धर्मांतरित' बताते हैं जबकि पीटर हार्डी की राय में वे सिर्फ 'जनगणना की दृष्टि से ही मुसलमान' हैं। हार्डी ने लिखा था : '...मध्यकालीन भारत में इस्लाम की मान्यताओं और आचरण की शुद्धता को असली खतरा ग्रामीण समाज में दिखायी देता था। नए मुसलमान इस बात से बेखबर थे कि इस्लाम के तहत उन्हें कैसा आचरण करना चाहिए। 'हिंदुत्व' उनके दैनिक जीवन में घुसता जा रहा था।' एक और बंगाली इतिहासकार ने कहा था कि बंगाली मुसलमानों के धार्मिक जीवन पर एक तरह का लोक इस्लाम हावी है, 'धर्म के जड़ सूत्रों से उनका कोई ताल्लुक नहीं है।' इस्लामिक रुझान वाले एक और बंगाली इतिहासकार ने इस प्रवृत्ति पर दुख व्यक्त करते हुए लिखा था : 'इस प्रकार, संख्या में बहुत ज्यादा गैर-मुसलमानों के साथ लंबे साहचर्य के फलस्वरूप और इस्लाम के मूल क्षेत्र से कटे होने और अर्ध-धर्मांतरित हिंदुओं की बहुलता के चलते मुसलमान मूल आस्था से बुरी तरह भटक चुके हैं। उनका भारतीयकरण हो गया है।'

इन सारी टिप्पणियों को एक खास नजरिये से समझा जाना चाहिए। मध्यकाल से उन्नीसवीं सदी तक बंगाल में इस्लाम के जिस रूप को अपनाया गया उसमें साझेपन के तत्व बहुत गहरे थे। यह साझापन अरब से आए उच्चतर इस्लाम के मूल्यों की बंगाली इस्लाम में घुसपैठ का परिणाम था जो कि बहुत सारे हिंदू-गैर-इस्लामी आचारों से जुड़ा हुआ था। उच्चतर इस्लाम का साहित्य अरबी और फारसी में लिखा होता था इसलिए आम मुसलमान उसे पढ़-समझ नहीं पाते थे। लिहाजा, अरबी और फारसी भाषाओं में संहिताबद्ध इस्लामिक परंपराएं बंगाली मुसलमानों के निचले तबकों की पहुंच से बाहर थीं जबकि बहुत सारी गैर-इस्लामिक देशी परंपराएं उनकी पहुंच में थीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि गरीब मुसलमान शास्त्रीय इस्लाम के मुकाबले स्थानीय परंपराओं का ज्यादा पालन करने लगे। सैयद सुल्तान नामक एक व्यक्ति ने लिखा था : 'पढ़े-लिखों के लिए तो अरबी और फारसी में किताबों की कोई कमी नहीं है लेकिन बेपढ़े-लिखे उन्हें नहीं समझ सकते। वे अपने धर्म की एक भी अवधारणा को न जानने के कारण स्थानीय किस्से-कहानियों में ही खोये रहते हैं। घर-घर में हिंदू-मुसलमान, सब, हिंदुओं के महाकाव्य महाभारत में तो डूबे रहते हैं जिसे कवींद्र परमेश्वर ने बंगाली में तब्दील कर दिया है— लेकिन खोड़ा और रसूल के बारे में कोई नहीं सोचता।' बंगाल के मुसलमानों में रामायण भी उतनी ही लोकप्रिय थी। एक टीकाकार ने लिखा, 'रामकथा को यवन (मुसलमान) भी आदर से सुनते हैं और सीता से वियोग पर राम की पीड़ा को देखकर आंसुओं में डूब जाते हैं।'

यह भाषायी विभाजन अशराफ (शाही या विशुद्ध वंशावली वाले) और अजलाफ (निचले तबकों से धर्मांतरण करके बने मुसलमान) के बीच मौजूद सामाजिक और सांस्कृतिक खाई को और चौड़ी करता जा रहा था। एक शरीफ (अशराफ का एकवचन) ने उच्चतर इस्लाम के स्थानीय मुसलमानों की पहुंच से बाहर चले जाने पर दुखी होते हुए कहा था : 'उच्चतर मुसलमान न तो बंगाली को अपना पाए हैं और न ही अपनाना चाहते हैं। इस वजह से उनके और निम्नतर मुसलमानों के बीच ताल्लुक खराब हो चुके हैं। हम बंगाली नहीं सीखते—और हमारे निचले तबके फारसी नहीं सीख सकते...। ऐसे में, दोनों के बीच साथ चलने का सहोदर वाला भाव नहीं पैदा हो सकता।' भाषा का मतलब सिर्फ यह नहीं था कि व्यक्ति पवित्र पुस्तकों को पढ़ सकता है या नहीं। दरअसल, भाषा सांस्कृतिक संवाद, मुहावरे, प्रतीकों और कल्पनाओं का माध्यम भी थी। जब ये सारी चीजें आम बंगाली मुसलमानों की पहुंच से बाहर हो गईं तो उन्होंने जो सामने आया उसे ही अपना लिया। उन्होंने बंगाली नृत्य नाटिकाएं, लोक कथाएं, स्थानीय मिथकीय परंपराएं पकड़ लीं।

जब इस्लाम के माहिरों ने उच्चतर इस्लाम को बंगाली मुसलमानों की समझ में आने लायक बनाने का प्रयास शुरू किया तो इसके लिए उन्हें भी उच्चतर इस्लामिक कायदे-कानूनों से फासला बनाना पड़ा। नबी और रसूल को पैगंबर नहीं बल्कि अवतार के रूप में पेश किया जाने लगा। उन्होंने अल्लाह को पैगंबर मोहम्मद का जन्मदाता बताया और कहा कि अल्लाह ने मोहम्मद को 'अपने ही रूप' से नवाज़ा है। कृष्ण को अल्लाह के संदेशवाहक की तरह पेश किया गया। राम को भी एक पैगंबर की श्रेणी में रखना पड़ा। इस प्रकार इस्लाम की पैगंबर-केंद्रित परंपरा को हिंदुत्व की अवतार-केंद्रित परंपरा के साथ जोड़ा गया ताकि इस्लाम का एक ऐसा रूप लोगों के सामने पेश किया जा सके जिसे बंगाल के गरीब मुसलमान भी समझ पाएं। यह सब इसलिए किया गया क्योंकि राम और कृष्ण स्थानीय सांस्कृतिक माध्यमों से बंगाली मुसलमानों के घर-बार और जिंदगी में गहरी पैठ बना चुके थे। इन्हीं कारणों से बंगाल के लोगों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दुनिया में साझा परंपराओं ने अपनी जबर्दस्त उपस्थिति दर्ज कराई। ऐसी ही कहानी पंजाब की रही जहां शक्तिशाली सूफी आंदोलन ने लोक संस्कृति को साझा तत्वों से सराबोर कर दिया था।

पठन सामग्री-3

एक उपमहाद्वीपीय इतिहास की ज़रूरत

भारत और पाकिस्तान का साझा इतिहास लिखना सरहद के दोनों तरफ के बहुत सारे इतिहासकारों और विद्वानों का सबसे बड़ा सपना रहा है। ज़ाहिर है कि उनकी नज़र में ऐसा करने से दोनों देशों के बीच दुश्मनी को किसी हद तक कम किया जा सकता है। एक टूटे-बिखरे और टकरावों से कराहते वर्तमान को हमारे साझा अतीत का मरहम ही फिर से राहत दे सकता है और लोगों एवं सरकारों को एक-दूसरे के नज़दीक ला सकता है।

कहने को तो यह परियोजना बड़ी आसान और मुमकिन दिखाई देती है। **3,000 साल से भी ज़्यादा लंबे समय के लिखित इतिहास में से केवल 1947 के बाद का समय ही तो ऐसा है जब ये दोनों देश एक-दूसरे से अलग खड़े हैं।** कहने का मतलब यह है कि अगर भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास को लोगों और शासकों की गतिविधियों और घटनाओं की एक निरंतर व अटूट शृंखला के रूप में देखा जा सकता है तो 1947 से पहले तक इस इलाके में पृथकता नहीं बल्कि परस्पर साहचर्य और निरंतरता का तत्व कहीं ज़्यादा प्रभावी दिखाई देता है। इसलिए भारत और पाकिस्तान के लोगों का एक साझा, बल्कि एक ही इतिहास लिखने में इतिहासकारों को कायदे से कोई मुश्किल पेश नहीं आनी चाहिए।

परंतु सतही सहजता के बावजूद अब तक बहुत कम ही लोग इस काम का बीड़ा उठा पाए हैं और इसे अंजाम तक तो शायद कोई नहीं पहुंचा सका। आखिर एक ऐसा बौद्धिक प्रयास इतना कठिन क्यों साबित हो रहा है जो काफी व्यावहारिक भी दिखाई देता है और सामाजिक रूप से अपेक्षित भी? इस सवाल का उत्तर आंशिक रूप से तो इस तथ्य में निहित है कि अब तक लिखे गए ज़्यादातर इतिहास आमतौर पर 'राष्ट्रीय इतिहास' रहे हैं। मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्र राज्यों के अलावा बाकी 'इकाइयों' के कोई इतिहास नहीं लिखे गए हैं। आखिरकार हमारे पास गांवों, सांस्कृतिक समूहों व समुदायों, महाद्वीपों और पूरी दुनिया के कई ऐतिहासिक ब्यौरे भी तो मौजूद हैं (प्रख्यात जनसांख्यिकी विद्वान किंग्सले डेविस ने भारत और पाकिस्तान की आबादी पर भी एक किताब लिखी है)। हम सिर्फ इतना कहना चाह रहे हैं कि ज़्यादातर इतिहासों को आमतौर पर राष्ट्रीय संदर्भों में ही सोचा गया है। हालांकि राष्ट्र और राष्ट्र राज्य दुनिया के नक्शे पर हाल ही में दाखिल हुए हैं मगर अब इन राष्ट्रीय इतिहासों को उस ज़माने पर भी लागू कर दिया गया है जब न तो राष्ट्र थे और न राष्ट्र राज्य (जैसे प्राचीन इंग्लैंड का इतिहास)। ऐसा आंशिक रूप से इस वजह से है कि राष्ट्र राज्यों के दबाव में इतिहास लेखन को एक परियोजना (यानी आदत या रुचि-अरुचि की बजाय सोचे-विचारे ढंग से इतिहास लिखने की कोशिश) के तौर पर लेने का चलन काफी बढ़ा है। विभिन्न राष्ट्रों या राष्ट्र बनने की इच्छा रखने वाले समुदायों ने इतिहास को वैधता हासिल करने के औजार की तरह इस्तेमाल किया है। यह बात न केवल राष्ट्रों के जीवनकाल के बारे में सच है बल्कि समय के उन दौरों पर भी खरी उतरती है जो दुनिया में राष्ट्रों के जन्म से पहले गुजर चुके थे। कहने का आशय सिर्फ इतना है कि जब एक राष्ट्र का इतिहास नहीं लिखा जा रहा था, तब भी इस बात की पूरी गुंजाइश रही होगी कि वह इतिहास एक राष्ट्र के लिए लिखा जा रहा हो। ऐसे वातावरण में और ऐसी मनोदशा के साथ भारत और पाकिस्तान जैसे दो प्रत्यक्षतः भिन्न राष्ट्र राज्यों का साझा इतिहास लिखना निश्चय ही कठिन है।

भारत और पाकिस्तान के प्रसंग में यह परियोजना और भी उलझ जाती है। असल में पाकिस्तान का जन्म कोई सहज और टकरावमुक्त घटना नहीं थी। पाकिस्तान किसी खूबसूरत सुबह को धरती के नक्शे पर उतर आए सपनीले बदलावों का नतीजा नहीं था। एक राष्ट्र राज्य के रूप में उसका सफर सहज नहीं रहा। उसके लिए लोगों ने लंबा संघर्ष लड़ा और विरोधियों से दो-दो हाथ करके कामयाबी पायी। दूसरा खेमा इस घटना को अपनी क्षति के रूप में देख रहा था और उसने बेबसी के अंदाज में ही इसे स्वीकार किया। एक की जीत दूसरे की हार का सबब बन रही थी। लंदन में 1968 में इस

उपमहाद्वीप के विभाजन पर आयोजित किए गए एक सेमिनार में यह बात बहुत निर्मम ढंग से सामने आई (1970 में इस सेमिनार के पर्चों को लंदन से सी. एच. फ़िलिप्स एवं मैरी डॉरीन वेनराईट के संपादन में पार्टिशन ऑफ इंडिया : पॉलिसीज़ एंड पर्सपेक्टिव, 1935–47 नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया)। इस सेमिनार में तीनों देशों के इतिहासकारों को आमंत्रित किया गया था। तीस और चालीस के दशकों में सक्रिय राजनीति में रह चुके कुछ राजनेताओं को भी सेमिनार में बुलाया गया था ताकि वह 1947 से पहले की घटनाओं पर रोशनी डाल सकें। इसी सेमिनार में पहली बार भारत और पाकिस्तान के इतिहासकारों को इस बात का अंदाज़ा हुआ कि अपने बुनियादी प्रस्थान बिंदुओं के मामले में भी वह एक-दूसरे से कितने अलग हैं। जहां एक तरफ भारत के इतिहासकार (बी. आर. नंदा, एस. आर. महरोत्रा एवं अन्य) 'दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन', 'विभाजन की त्रासदी' वगैरह के बारे में बात कर रहे थे और इस आशय की दलीलें दे रहे थे कि उसको किस तरह टाला जा सकता था, वहीं दूसरी तरफ पाकिस्तानी इतिहासकारों और प्रेक्षकों (आई. एच. कुरैशी, महमूदाबाद के राजा, एम. ए. एच. इस्पाहानी तथा अन्य) के लिए यह 'नियति के साथ साक्षात्कार' और इतिहास की शक्तियों का एक अपरिहार्य परिणाम था। भारतीय राष्ट्रवाद और पाकिस्तानी राष्ट्रवाद (जिसे उसके विरोधी मुस्लिम राष्ट्रवाद और मुस्लिम सांप्रदायिकता भी कहते हैं) की नज़र एक दिशा में नहीं थी और न ही दोनों एक ही दिशा में देखने को तैयार थे।

इन तीखे मतभेदों की परछाईं इन दोनों देशों में इतिहास लेखन के विविध आयामों पर भी पड़ी है। दोनों देशों के ऐतिहासिक नायक अलग-अलग हैं। दोनों देशों के सफलता और विफलता के क्षण भी एक-दूसरे से बदल गए हैं। एक के लिए जो क्षण सफलता का है दूसरे के लिए वही विफलता का क्षण है। स्कूली बच्चों के लिए लिखी गई इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में यह प्रवृत्ति और भी भयानक दिखाई देती है। आधुनिक भारत पर लिखी गई भारतीय पाठ्य पुस्तकों में सैयद अहमद ख़ान की उस भूमिका का ज़िक्र किया जाता है जब उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता और सद्भाव के हक में आवाज़ उठाई थी मगर जब वह मुसलमानों को अलग होने का रास्ता दिखाने लगे, उस दौर के बारे में इन किताबों में चुप्पी साध ली जाती है। पाकिस्तानी पाठ्य पुस्तकों में उन्हें राजनीतिक दायरे के भीतर 'मुस्लिम पहचान' को पुख़्तगी देने वाले नेता के रूप में देखा जाता है और उनके उस शुरुआती दौर की अनदेखी कर दी जाती है जब वह विभिन्न समुदायों के बीच सद्भाव का अलख जगा रहे थे। दोनों देशों के इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में इक़बाल भी दो अलग-अलग व्यक्तियों का नाम है। भारतीय पाठ्य-पुस्तकों में उन्हें प्रसिद्ध तराना-ए-हिंद (सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा) लिखने वाले कवि के तौर पर बड़ी प्रशंसा भरी नज़रों से देखा जाता है। दूसरी तरफ पाकिस्तान की पाठ्य-पुस्तकों में महाकवि की ज़िंदगी के इस दौर पर चुप्पी साध कर उनके जीवन के उस दौर पर ज़्यादा बात की गई है जहां वह इस्लाम की श्रेष्ठता और विशिष्टता की भावना को बनाए रखने की कोशिश करते दिखाई देते हैं। इस तरह के बहुत सारे उदाहरण दिए जा सकते हैं जहां दोनों देशों की पाठ्य पुस्तकों में प्रमुख राष्ट्रीय व्यक्तित्वों के अलग-अलग पहलुओं को अपने-अपने हिसाब से उभारने की कोशिश की गई है।

एक और समस्या अवधियों के निर्धारण को लेकर खड़ी हो जाती है। सवाल यह उठता है कि किसी समाज, जनता, देश का इतिहास कहां से शुरू होना चाहिए? भारत के मामले में तो इस तरह की कोई समस्या नहीं है क्योंकि यहां की सभ्यता, शासन और समाज में एक निरंतरता दिखाई देती है। भारतीय इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक, इन तीन परिधियों के ज़रिए आसानी से लिखा और पढ़ा जा सकता है। मगर पाकिस्तान का इतिहास कहां से शुरू हो? क्या उसके इतिहास को भी भारत के इतिहास की तरह इन्हीं तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है? क्या पाकिस्तान का इतिहास हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो (जो दोनों ही भौगोलिक रूप से पाकिस्तान में स्थित हैं) से शुरू माना जाए, या उसे सातवीं सदी में इस्लाम के उदय से शुरू किया जाए (क्योंकि पाकिस्तान की स्थापना के लिए चला आंदोलन और पाकिस्तानी राष्ट्र राज्य, दोनों इस्लामिक पहचान की बुनियाद पर ही खड़े हैं) या उसका इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी में तब से शुरू किया जाए जब पाकिस्तान को दार्शनिक स्तर पर सूत्रबद्ध करना शुरू किया गया था? या उसका इतिहास 1947 से शुरू किया जाए जब एक नए राष्ट्र राज्य के रूप में उसका जन्म हुआ था? क्या राष्ट्र राज्य का इतिहास उसके जीवनकाल का इतिहास होना चाहिए? क्योंकि पाकिस्तान की पहचान को इतिहास की विविध परतों में नहीं ढूंढा जा सकता इसलिए पाकिस्तान के इतिहास के प्रस्थानबिंदु का यह सवाल वाकई एक जटिल चुनौती बन जाता है।

बहरहाल, तमाम मुश्किलों के बावजूद, इतना तो कहा ही जा सकता है कि दोनों देशों (और हां बांग्लादेश भी, जो इसी

इलाके और लोगों के बीच से पैदा हुआ है) का एक साझा इतिहास लिखने की कोशिश चुनौतीपूर्ण भले ही हो मगर यह एक आकर्षक चुनौती जरूर है। यह इतिहास लिखने के लिए निम्नलिखित प्रयास किए जा सकते हैं :

- राष्ट्र राज्य की बजाय लोगों के इतिहास पर ध्यान केंद्रित किया जाए,
- दोनों देशों के बीच निहित टकराव के बिंदुओं को पहचाना जाए और जहां तक हो सके उन्हें हाशिए पर रखा जाए,
- महत्वपूर्ण व्यक्तियों (सैयद अहमद ख़ान, इकबाल, जिन्ना, नेहरू, पटेल आदि) को उनके खास संदर्भ में देखा जाए और उनकी ज़िंदगी के पूरे फलक और उसमें आने वाले बदलावों को समग्रता से पकड़ा जाए,
- राजनीतिक इतिहास की बजाय सामाजिक इतिहास लेखन पर ज़्यादा जोर दिया जाए,
- एक साझा शब्दकोश विकसित किया जाए और विभाजन, मुस्लिम सांप्रदायिकता आदि विवादास्पद और विशिष्ट शब्दों से बचने की कोशिश की जाए, तथा
- विद्यार्थियों को विशाल राजनीतिक आंदोलनों (जैसे, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और पाकिस्तान के लिए चला आंदोलन) में निहित जटिलताओं से इस प्रकार परिचित कराया जाए जिससे उनमें पूर्वाग्रह पैदा न हों।

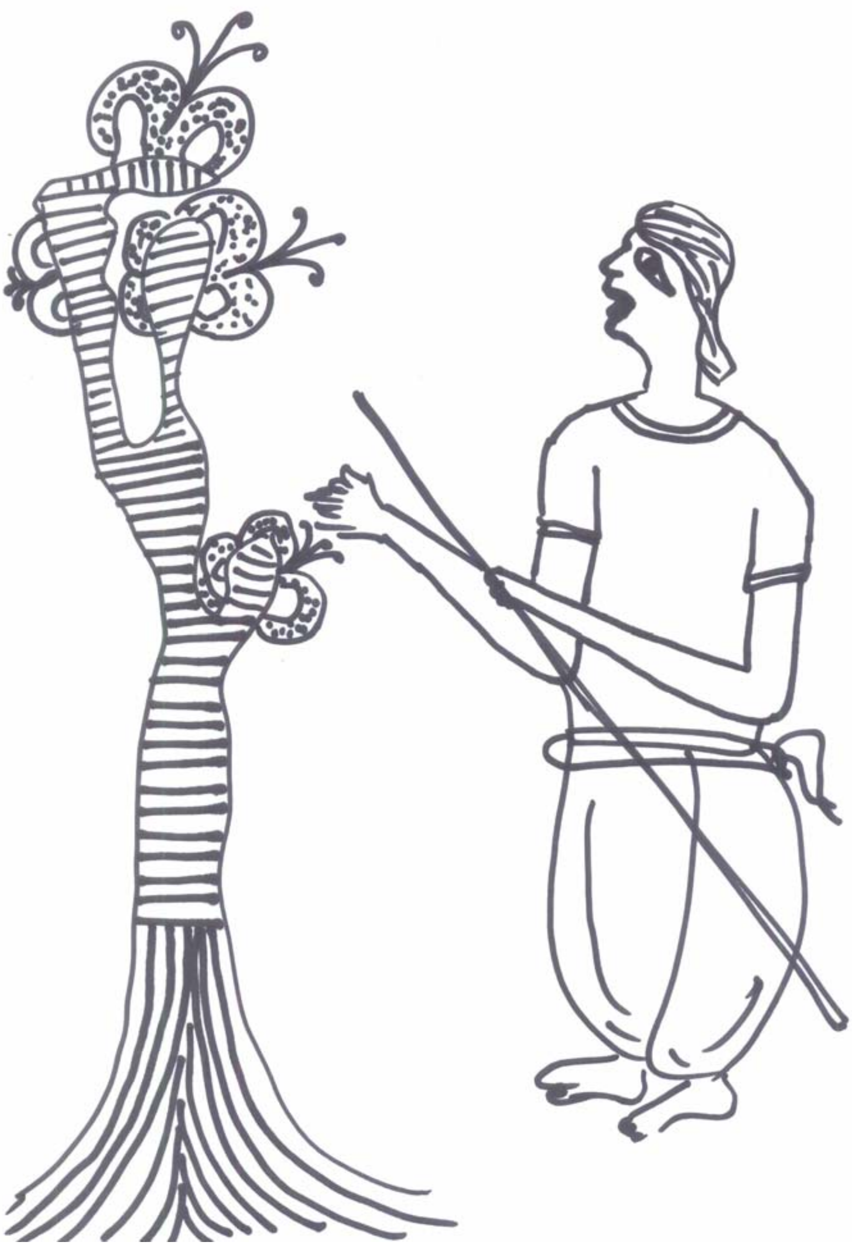

नोट्स

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी (आई.एस.डी.) का गठन दिल्ली में 2004 में किया गया था। आई.एस.डी. एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है जहां किसी तरह के शोषण के लिए कोई जगह नहीं होगी। आई.एस.डी. का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से उत्तर भारत के हिंदी भाषी इलाकों तक सीमित है लेकिन अन्य भारतीय क्षेत्रों तथा दक्षिण एशियाई देशों में भी उसके गहरे संबंध हैं और हिंदी पट्टी के अलावा अन्य स्थानों पर भी कार्यक्रम आयोजित किए गए हैं। यह संगठन सांप्रदायिकता, जाति, लैंगिक भेदभाव, वैश्वीकरण, आणविक निशस्त्रीकरण आदि मुद्दों पर समुदाय आधारित तथा स्थानीय संगठनों के कार्यकर्ताओं और कर्मचारियों को शिक्षण-प्रशिक्षण देता है। इन मुद्दों के इर्द-गिर्द संगठन ने अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर, और सबसे ज्यादा स्थानीय स्तर पर शांति अभियानों का आयोजन किया है और सहायता प्रदान की है। अपने प्रशिक्षण कार्यक्रमों के ज़रिए संगठन ने स्थानीय कार्यकर्ताओं का एक अनौपचारिक नेटवर्क विकसित किया है जो लगातार संगठन के संपर्क में रहता है।

आई.एस.डी. की राय में धर्मनिरपेक्षता एक ऐसा मूल्य है जो विभिन्न सामूहिक पहचानों—धार्मिक, भाषायी, समुदाय, आदि—के अस्तित्व को मान्यता देता है और उनकी सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं का सम्मान करता है। धर्मनिरपेक्षता की सोच न केवल अन्य पृष्ठभूमियों से संबद्ध समुदायों की परिधि को सम्मान देता है बल्कि इस परिधि के प्रति उनके अधिकार के लिए भी आवाज उठाता है।

आई.एस.डी. ने दक्षिण एशियाई उपमहाद्वीप में 'साझी विरासत', साझा मूल्यों, प्रतीकों और सांस्कृतिक आचारों की अवधारणा विकसित की है जो विभिन्न धार्मिक एवं जातीय समुदायों के विभाजन से ऊपर है। इस अवधारणा की तुलना इस तथ्य से की जा सकती है कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को एक अलग व्यक्ति के रूप में तो देखा ही जाएगा लेकिन ऐसा भी हो कि हर व्यक्ति अपने परिवार का सदस्य भी जरूर हो। भले ही प्रत्येक व्यक्ति परिवार के सारे गुणों को समान रूप से प्रतिबिंबित न करता हो। इसी प्रकार साझी विरासत भी समाज के किसी एक धार्मिक, जातीय, व समुदाय या लैंगिक समूह की नहीं होती। यह पूरे समाज की संपदा है और उन सार्वजनिक परिधियों के संरक्षण में योगदान देती है जो खुली, लोकतांत्रिक और समावेशी परिधियां हैं। साझी विरासत एक निरंतर परिवर्तनशील और लोकतांत्रिक अवधारणा है जो समाज के ताने-बाने को चोट पहुंचाए बिना सामाजिक-राजनीतिक संबंधों की व्याख्या करने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को बढ़ावा देती है।

आई.एस.डी. की त्रिस्तरीय कार्यनीति :

द साझी विरासत के विविध आयामों को समझने-बूझने और उसके संरक्षण व समृद्धि के प्रति प्रतिबद्धता पैदा करने के लिए बैठकों और कार्यशालाओं के माध्यम से लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता को समर्पित नागर समाज समूहों व संगठनों को एकजुट करना।

द सांस्कृतिक समानताओं को सामने लाने और उनकी रक्षा करने तथा साझी परंपराओं पर आधारित धर्मनिरपेक्ष व लोकतांत्रिक मूल्यों को सामने लाने के लिए साहित्य, लोक कथा, संगीत व रंगमंच जैसे सांस्कृतिक संसाधनों के अन्वेषण और प्रसार के लिए प्रशिक्षण और अनुसंधान अध्ययन करना।

द ग्राम समुदायों पर विशेष ध्यान देते हुए उपरोक्त कार्यशालाओं व अध्ययनों के निष्कर्षों व परिणामों को सरल, आसानी से समझ में आने वाली सामग्री के रूप में रूपांतरित करना ताकि उन्हें जनशिक्षा और गोलबंदी के लिए प्रयोग किया जा सके।

इस प्रकार आई.एस.डी. का कार्यक्रम सिर्फ प्रोजेक्ट्स तक सीमित नहीं है। इसमें जीवनशैली के सवाल और संगठन के प्रमुख कर्ता-धर्ताओं की गहरी चिंताएं भी प्रतिबिंबित होती हैं। इसीलिए आई.एस.डी. अपने कर्मचारियों को सीखने के लिए और निर्णय प्रक्रिया में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित करता है। सभी को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे विषयवस्तु से जुड़े कामों में हिस्सेदारी करें और विभिन्न मुद्दों पर अपनी समझ और स्थिति को चर्चा व सीखने-सिखाने के माध्यम से विकसित करें। आई.एस.डी. के साथ काम करने वालों को सोच-विचार और लोकतांत्रिक मूल्यों के बारे में कुछ न कुछ सीखने को जरूर मिलता है।

हागेन बर्न्ट

ई.ई.डी., जर्मनी

आधुनिक काल में हमारी समन्वयवादी और बहुलवादी परंपराओं को देश के साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन से गहरा बल मिला है। एक व्यापक अर्थ में भारतीय उपमहाद्वीप का आंदोलन केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष की अभिव्यक्ति मात्र नहीं था। जिस समय हमारे देश की बहुलता आधुनिकीकरण के सर्वसमरूपी प्रवाह में खोती दिखाई दे रही थी उसी समय राष्ट्रीय आंदोलन ने हमारी इस विशद और भव्य सामाजिक विरासत के संरक्षण में निर्णायक हस्तक्षेप किया था। इसी विरासत से धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद का ताना–बाना उपजा है। धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता के आधुनिक आग्रहों के लिए हमें समन्वयवाद और बहुलता में अंतर्निहित परंपरागत मूल्यों का बलिदान देने की जरूरत नहीं पड़ी। इस तरह, हम अपने परंपरागत ऊर्जा भंडारों का परित्याग किए बिना राजनीतिक आधुनिकता के मार्ग पर बढ़ने और विदेशी शासन से लोहा लेने में सफल रहे। फलस्वरूप हमारा समाज परंपरागत संसाधनों के स्तर पर बहुत भारी कीमत चुकाए बिना आधुनिकता के पहले चरण में सहज रूप से दाखिल हो पाया। अगर हमने स्वतंत्रता आंदोलन के माध्यम से अपनी समन्वयवादी और बहुलवादी परंपराओं को अब तक बचाए रखा है, उनका अपने हित में प्रयोग किया है तो अब भी हमारे पास ऐसी कोई वजह नहीं है कि इस विपुल संपदा को हम नष्ट हो जाने दें।

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी (आई.एस.डी.)

फ्लैट नम्बर 110, नंबरदार हाउस, 62–ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली–110067, भारत

फोन : 091–11–26196356, टेलीफैक्स : 091–11–26177904

ई.मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाईट : www.isd.net.in